A Study of Shankara Mishra's Critique of Advaita Vedanta

A Thesis Submitted to
University of Allahabad

For
The Award of D. Phil.

By
Satya Prakash Pandey
M. A.
U. G. C. Senior Research Fellow

Under the guidance of
Dr C. L. Tripathi, M. A., D. Phil.
Reader in Philosophy
University of Allahabad
Allahabad

Department of Philosophy
University of Allahabad
Allahabad
OCTOBER, 1988

शांकर मिश्र के अद्वैतवेदान्त के खण्डन का अनुशीलन

A STUDY OF ŚANKARA MIŚRA'S CRITIQUE OF

ADVAITA VEDĀNTA

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में

डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता

सत्य प्रकाश पाण्डेय

एम०ए० सीनियर रिसर्च फेलो

निर्देशक

डा० छोटे लाल त्रिपाठी

एम० ए० , डी० फिल०

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

प्रस्तावना

प्रस्तावना

कई शताब्दियों से यह धारणा प्रचलित है कि अद्वैतवेदान्त सभी भारतीय दर्शनों का सिरमौर है, अथवा सभी भारतीय दर्शन अद्वैतवेदान्त के आत्मवाद को अन्ततोगत्वा स्वीकार करते हैं । माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह, मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थानभेद तथा डा० गंगानाथ झा के शांकरवेदान्त में यही दृष्टि अपनीयी गई है । परन्तु न्यायदर्शन का गम्भीर अनुशीलन करने पर पता चलता है कि यह दृष्टि भ्रान्त है । आचार्य उदयन, शंकर मिश्र, वाचस्पति मिश्र द्वितीय, गोकुलनाथ प्रभृति नैयायिकों ने इस दृष्टि को चुनौती दी है और सिद्ध किया है कि न्यायदर्शन का आत्मवाद अद्वैतवेदान्त के आत्मवाद में अन्तर्भूत नहीं होता है प्रत्युत वह अद्वैत - वेदान्त के आत्मवाद से अधिक प्रामाणिक मत है । न्यायदर्शन अद्वैतवेदान्त का प्रथम सोपान नहीं है । वह स्वयं एक स्वतन्त्र दर्शन है और अद्वैतवेदान्त से अधिक युक्ति-संगत है । अद्वैतवेदान्त जहां भेद का खण्डन करता है और अभेदवाद को सिद्ध करता वहां न्यायदर्शन भेद को सिद्ध करता है और अभेदतत्त्व का खण्डन करता है । इस कारण न्यायदर्शन और अद्वैतवेदान्त में पर्याप्त अन्तर हैं ।

किन्तु अभी तक न्यायदर्शन और अद्वैतवेदान्त के इस संघर्ष का अनुशीलन नहीं किया गया है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस ओर पहला प्रयास है । जिस प्रथम नैयायिक ने न्याय-दृष्टि से अद्वैतवेदान्त के खण्डन का सूत्रपात किया वह शंकर मिश्र है । इसलिये यहां शंकर मिश्र द्वारा अद्वैतवेदान्त के खण्डन का विवेचन किया गया है । इस विवेचन को जितना मूलानुसारी और युक्तिसंगत बनाना मेरे लिये संभव

था उतना मैने किया है । शंकर मिश्र के ग्रन्थों के आधार पर अद्वैतवेदान्त के खण्डन का निरूपण यहां किया गया है । उनका खण्डन नव्यन्याय की प्रमाण मीमांसा और प्रमेयमीमांसा के आधार पर है । इस शोध- प्रबन्ध में दिखाया गया है कि शंकर मिश्र का यह खण्डन युगान्तरकारी सिद्ध हुआ है क्योंकि इसके पक्ष तथा विपक्ष में अनेक दार्शनिकों को लेखनी उठानी पड़ी है ।

वास्तव में शंकर मिश्र के पूर्व अद्वैतवेदान्त का संघर्ष बौद्ध दार्शनिकों से था । किन्तु शंकर मिश्र के समय बौद्ध दार्शनिक भारत में नहीं रह गये । इस कारण खण्डन-प्रेमी अद्वैतवेदान्तियों ने खण्डन के लिये न्याय दर्शन को चुना । इन अद्वैत-वेदान्तियों में श्रीहर्ष का नाम अग्रगण्य है और उनका ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य न्याय-दर्शन के लक्षणों के खण्डन में एक कालजयी कृति है । वास्तव में अद्वैतवेदान्ती श्रीहर्ष ने ही न्याय और अद्वैतवेदान्त के संघर्ष को आरम्भ किया । शंकर मिश्र, वाचस्पति मिश्र द्वितीय और गोकुलनाथ ने इसीलिये अद्वैतवेदान्त का खण्डन करने के लिये विशेषरूप से खण्डनखण्डखाद्य का निराकरण किया । इस निराकरण की पहल शंकर मिश्र ने की । उन्होंने न्यायदर्शन को श्रीहर्ष के खण्डनों से बचाया और श्रीहर्ष की युक्तियों द्वारा ही श्रीहर्ष का खण्डन किया । इसके अतिरिक्त शंकर मिश्र ने अपनी सूझबूझ से न्यायदर्शन और अद्वैतवेदान्त के संघर्ष की सबसे बड़ी विवादवस्तु के रूप में भेद को अग्रसर किया तथा भेदप्रकाश या भेदरत्न नामक ग्रन्थ लिखा । उनके आनन्दवर्धन (खण्डनखण्डखाद्य टीका) और भेदरत्न उतने ही कालजयी ग्रन्थ हैं जितना श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य ।

दार्शनिक और तार्किक दृष्टि से शंकर मिश्र द्वारा किया गया अद्वैत वेदान्त का खण्डन कितना महत्वपूर्ण है , इसको इस शोध-प्रबन्ध में यथा स्थान दिखाया गया है । न्यायदर्शन को यहाँ प्राचीन न्याय, वैशेषिक दर्शन और नव्यन्याय के समन्वित रूप में ग्रहण किया गया है । न्यायदर्शन के इस रूप के प्रदाता भी स्वयं शंकर मिश्र ही हैं, यह एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य है ।

आधुनिक दर्शन के संदर्भ में भी शंकर मिश्र का यह खण्डन अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि वे एक यथार्थवादी- अनुभववादी तर्कशास्त्री हैं और नव्यन्याय की एक शाखा के अग्रणी दार्शनिक हैं । इसलिये शंकर मिश्र द्वारा किया गया अद्वैत-वेदान्त का खण्डन सभी दृष्टियों से अनुसंधान - योग्य है ।

आरम्भ में मुझे इस विषय पर कुछ सामग्री नहीं मिली थी । किन्तु ज्यों - ज्यों शंकर मिश्र के ग्रन्थों का अध्ययन करता गया , त्यों- त्यों प्रस्तुत विषय पर सामग्री इकट्ठा हो गई । उस पर मैंने यहां यथामति विचार किया है । अब सुधीजन स्वयं विचार कर सकते हैं कि मैंने अपने विषय के प्रति कहाँ तक न्याय किया है । अलबत्ता मुझे इस बात से सन्तोष है कि जिस अनुसंधान को मैंने शुरू किया था वह अब पूर्ण हो गया है ।

इस शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित जितने व्यक्ति हैं उन सबके प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ इसलिये अब मैं क्रमशः उन सभी गुरुजनों और मित्रजनों को यहां नामोल्लेखपूर्वक सादर आभार प्रदर्शन करना चाहता हूँ ।

सर्वप्रथम इस शोध- विषय के चयन के लिये मैं अपने पूज्य पिता जी प्रो० संगमलाल पाण्डेय का ऋणी हूं। उन्होंने न केवल शोध के लिये यह विषय दिया वरन् शंकर मिश्र के कई ग्रन्थों को परिश्रमपूर्वक पढ़ाया भी। यदि उनके पथ - प्रदर्शन तथा प्रशिक्षण मुझे न मिलते तो कदाचित् मैं अपना शोध पूरा न कर पाता। अत: मैं इस कृपापूर्ण सहयोग के लिये उनके प्रति सर्वप्रथम आभार ज्ञापित करता हूं।

तत्पश्चात् मैं अपने शोध निर्देशक डा० छोटे लाल त्रिपाठी का भी वशंवद हूं। उन्होंने मुझे जो निर्देशन दिया, मेरे शोध- प्रबन्ध को जिस प्रकार सुधारा और सदैव जो ज्ञान और उत्साह दिये, उन सबके लिये मैं उनका आजन्म आभारी रहूंगा।

इस शोध - प्रबन्ध के प्रणयन में मैं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य डा० एन०एस०एस० रामन् का भी विशेष ऋणी हूं। उनके पास जाकर अपने विषय से सम्बन्धित मैने बहुत कुछ सीखा है। उनकी कृपा से ही मुझे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय पुस्तकालय से सहायता मिली है। व्यावहारिक जीवन में अनेक प्रकार की सहायतायें पहुंचाकर उन्होंने जो कृपा की है उसका वर्णन करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। फिर वहीं के डा० कृपाशंकर ओझा का भी मैं आभारी हूं जिनके साथ रहकर मैने बहुत कुछ पढ़ा और लिखा है और जिन्होंने मुझे पढ़ने तथा लिखने का तौर तरीका भी बताया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, डा० देवकी नन्दन द्विवेदी तथा डा० रामलाल सिंह का भी मैं बड़ा आभारी हूं, जिन्होंने मुझे समय- समय परअनेक सुझाव और सत् परामर्श दिये हैं। अन्त में मैं अपने जीजा श्री विश्वनाथ तिवारी को भी धन्यवाद देता हूं जिन्होंने मुझे सदैव शोध के लिये प्रोत्साहन दिया है और

मेरे शोध की प्रगति में यथेष्ट रुचि ली है । सुन्दर एवं स्पष्ट टंकण के लिये श्री ओम प्रकाश श्रीवास्तव जी भी धन्यवाद के पात्र है जिन्होंने मुझे अपना अमूल्य समय दिया ।

आशा है इन सभी उत्तमणों को इस शोध - प्रबन्ध को देखकर प्रसन्नता होगी । इसमें नैयायिक शंकर मिश्र की परम्परा का जो भी नवीकरण संभव हुआ है उसे मैं अपने सभी गुरुजनों की कृपा का फल मानता हूं ।

शोध- कर्त्ता

सत्य प्रकाश पाण्डेय

इलाहाबाद

दिनांक : 22 Sept. 1988

§ सत्य प्रकाश पाण्डेय §

विषय - सूची

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

शंकर मिश्र का परिचय

[1] शंकर मिश्र का महत्व

शंकर मिश्र नव्य न्याय की मैथिल शाखा के एक महान् नैयायिक हैं। उनके बारे में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि "गंगेश के बाद पक्षधर को छोड़कर शायद ही कोई मैथिल नैयायिक शंकर मिश्र की बराबरी कर सकता है। उनका प्रभाव और उनकी लोकप्रियता अमित है। यद्यपि उन्होंने मुख्यतः व्याख्या-ग्रन्थ ही लिखे हैं तथापि दर्शन के प्रति उनका अवदान अत्यन्त अधिक है।[1]"

वास्तव में कविराज जी का उपर्युक्त मूल्यांकन निम्नलिखित प्रचलित श्लोक पर आधारित है -

> शङ्करवाचस्पतयोः समानौ शङ्करवाचस्पती भवतः ।
> पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न च क्वापि[2] ।।

अर्थात् शंकर मिश्र और अभिनव वाचस्पति मिश्र शारीरिक भाष्यकार शंकराचार्य और भामतीकार वाचस्पति मिश्र के समान हैं, परन्तु पक्षधर या जयदेव मिश्र के समान कोई दृष्टिगत नहीं होता है।

यह मूल्यांकन वास्तव में इस आधार पर किया गया है कि जैसे भगवत्पाद शंकराचार्य और भामतीकार वाचस्पति मिश्र अद्वैत वेदान्त का समर्थन करते हैं वैसे ही शंकर मिश्र और अभिनव वाचस्पति मिश्र न्यायदर्शन के दृष्टिकोण से अद्वैत का खण्डन करते हैं। इस प्रकार शंकर मिश्र और अभिनव वाचस्पति मिश्र ऐसे पक्षधर हैं जिनके प्रतिपक्षी या प्रतिद्वन्द्वी हैं ; किन्तु पक्षधर मिश्र का कोई ऐसा प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, क्योंकि पक्षधर, यहां एक नाम है और वह गुणवाचक नहीं है। उन्होंने कोई ऐसा पक्ष नहीं लिया जिसका कोई प्रबल प्रतिपक्ष खड़ा किया जा सके। इसलिए महान् नैयायिक होते हुए भी पक्षधर का विरोध उतना नहीं हुआ जितना शंकर मिश्र का हुआ यह बात प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य के अध्ययन से और स्पष्ट होती है। उन्होंने लिखा है कि शंकर मिश्र प्रभाकर- मत के वत्सेश्वर द्वारा रचित मीमांसामहार्णव से प्रभावित थे [3]। इस कारण गंगेश उपाध्याय के पुत्र वर्धमान के मतों का खण्डन भी शंकर मिश्र ने अपने ग्रन्थों में कई जगह किया है [4]। इस प्रकार शंकर मिश्र ऐसे नव्य नैयायिक हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर गंगेश की परम्परा का खण्डन किया है और उदयनाचार्य तथा प्रभाकर-मत का समर्थन किया है। प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार गंगेश-विरोधी नव्य नैयायिकों में वटेश्वर उपाध्याय, जीवनाथ मिश्र, भवनाथ मिश्र और शंकर मिश्र हैं। भवनाथ मिश्र शंकर मिश्र के पिता थे और जीवनाथ मिश्र

मिश्र के बड़े भाई थे। वटेश्वर उपाध्याय भवनाथ मिश्र के नाना थे। इस प्रकार शंकर मिश्र कीपरम्परा का नव्यन्याय में अपना एक विशिष्ट स्थान है। नव्यन्याय के क्षेत्र में जिन ग्रन्थों का अध्ययन होता था उनमें गंगेश उपाध्याय की तत्वचिन्तामणि, उदयनाचार्य के आत्मतत्वविवेक, किरणावली और न्यायकुसुमांजलि तथा श्री वल्लभाचार्य की न्याय-लीलावती और श्री हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य मुख्य थे। यह उल्लेखनीय है कि शंकर मिश्र ने इन सभी ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं जिनका महत्व परवर्ती सभी नैयायिकों पर पड़ा है। अतः जैसा प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य के विवरण से स्पष्ट है, शंकर मिश्र नव्यन्याय की एक उपशाखा के अग्रणी दार्शनिक हैं।

शंकर मिश्र का मूल्यांकन करते हुए महामहोपाध्याय उमेश मिश्र कहते हैं कि "मिथिला के सांस्कृतिक इतिहास में शंकर मिश्र का स्थान अद्वितीय है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने प्रायः कठिन ग्रन्थों पर टीकाएं ही लिखी हैं,तथापि उनकी टीकाओं ने मिथिला के गौरव को बढ़ाया है और प्राचीन न्याय तथा वैशेषिक के पठन-पाठन का पुनरुद्धार किया है। वे नैयायिक और वैशेषिक दोनों थे। फिर जिस अधिकार से उन्होंने न्याय दर्शन पर लिखा, उसी अधिकार से उन्होंने वेदान्त पर भी ग्रन्थ लिखे और अद्वैतवादियों की आलोचनाओं से न्यायदर्शन की प्रतिरक्षा की [5]।"

महामहोपाध्याय उमेश मिश्र ने यहाँ एक बात बड़े महत्व की कही है। वह यह है कि जिस प्रकार के टीका-ग्रन्थ शंकर मिश्र ने रचे हैं वे दर्शन की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। यदि हम इन कृतियों को महत्व न दें तो भगवत्पाद शंकराचार्य - जैसे महान् दार्शनिक का भी अवमूल्यन हो जाएगा, क्योंकि उन्होंने भी अधिकांशतः भाष्य ही लिखे हैं। अतः भारतवर्ष में भाष्य लिखना मौलिक दार्शनिक कर्म माना जाता रहा है। जैसे शंकराचार्य भाष्यकार होते हुए भी एक मौलिक दार्शनिक हैं वैसे शंकर मिश्र भी भाष्यकार होते हुए भी एक मौलिक दार्शनिक हैं। उनकी दार्शनिक प्रतिभा का साक्षात्कार उनके ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र होता है। इसीलिए यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि शंकर मिश्र के ग्रन्थों ने मिथिला के गौरव को बढ़ाया है।

पुनश्च, जैसा कि आगे कहा जायगा, शंकर मिश्र के दो मौलिक ग्रन्थ भी हैं :- भेद प्रकाश और वादिविनोद। इन ग्रन्थों में भी शंकर मिश्र की दार्शनिक प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है। मिथिला में उनके समय में जो दार्शनिक परम्परा थी वह पूर्णरूप से बौद्धिक थी। उस परम्परा में प्राचीन ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का अध्ययन किया जाता था, अनेक मतमतान्तरों की परीक्षा की जाती थी और अन्त में अपना स्वतन्त्र मत स्थापित किया जाता था। शंकर मिश्र के ग्रन्थों में यह सब उपलब्ध है।

§2§ शंकर मिश्र के ग्रन्थ

शंकर मिश्र के ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं। पहला, काव्य ग्रन्थ, जिसके अन्दर पंडित विजय, गौरीदिगम्बरप्रहसन, रसार्णव, कृष्णविनोद नाटक और मनोभवपराभव नाटक - ये पाँच ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इन ग्रन्थों में पंडित विजय का निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है -

बालोहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती ।
अपूर्णे पंचमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम् ।।

कहा जाता है कि मिथिला के राजा शिवसिंह ने बालक शंकर से पूछा था कि तुम क्या पढ़ते हो ? इस पर शंकर ने कहा था कि मैं आपको पुराना श्लोक सुनाऊँ या अपना बनाया हुआ सुनाऊँ? उस समय शंकर मिश्र की उम्र पांच वर्ष थी। राजा को आश्चर्य हुआ कि पांच वर्ष का यह लड़का कैसे श्लोक बना सकता है ? इसलिए उन्होंने शंकर मिश्र से कहा कि अगर तुम श्लोक बना सकते हो तो अपना बनाया हुआ श्लोक सुनाओ। तब बालक शंकर मिश्र ने उपर्युक्त श्लोक सुनाया|उससे राजा बहुत प्रसन्न हुए तथा शंकर मिश्र को काफी पुरस्कार दिये।

रसार्णव नामक ग्रन्थ शंकर मिश्र के स्वरचित सुभाषितों का संग्रह है। इसका निम्नलिखित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है -

तर्काभ्यासपरिश्रान्तस्वान्तविश्रान्तिहेतवे ।
ये श्लोका विहितास्तेषां संग्रहोऽयं विधीयते।।

अर्थात् जब शंकर मिश्र तर्क का अभ्यास करने से थक जाते थे तब वे मनोविनोद करने के लिए श्लोक लिखते थे। इस प्रकार के लिखे गये श्लोकों का संग्रह रसार्णव है।

रसार्णव में ही निम्नलिखित श्लोक हैं, जिसमें श्री पुरुषोत्तम नामक राजा का उल्लेख है और जिसे महामहोपाध्याय गंगानाथ झा मिथिला के राजा गरूड नारायण से अभिन्न करते हैं -

सभ्याश्चेत्प्रतियन्ति कामपि कथामावेदयामो वयं
वीरश्रीपुरुषोत्तमक्षितिपते तत्रावधानं कुरू ।
त्वत्प्रत्यर्थिमहीभुजां मृगदृशो वक्षोजकुम्भद्वया
वष्टम्भादपि सन्तरीतुमधुना वांछन्ति वारान्निधिम् ।।

शंकर मिश्र के द्वितीय प्रकार के ग्रन्थ स्मृति-ग्रन्थ हैं। महामहोपाध्याय सतीश चन्द्र विद्याभूषण के अनुसार शंकर मिश्र ने तीन स्मृति-ग्रन्थ लिखे थे। अन्त में, शंकर मिश्र के तृतीय प्रकार के ग्रन्थ दार्शनिक ग्रन्थ

हैं जिनका महत्व उनके काव्य-ग्रन्थों तथा स्मृति-ग्रन्थों से कई गुना अधिक है। वस्तुत: शंकर मिश्र की कीर्ति मुख्यत: उनके दार्शनिक ग्रन्थों पर निर्भर है। ये ग्रन्थ हैं -

§1§ त्रिसूत्रीनिबन्धव्याख्या। यह ग्रन्थ उदयन की त्रिसूत्रीपरिशुद्धि की व्याख्या है। इसकी एक पाण्डुलिपि महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को दिनाजपुर में बंगाली लिपि में लिखी मिली थी। इसमें 123 पन्ने हैं। यह अभी तक अप्रकाशित है। इसमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण श्लोक है -

> प्रकाशदर्पणोद्योतकृद्भिर्व्याख्या कृतोज्ज्वला
> तथापि योजनामात्रमुद्दिश्यायं ममोद्यम:।।

अर्थात् यद्यपि उदयन की परिशुद्धि पर वर्धमान उपाध्याय की प्रकाशटीका, वटेश्वर उपाध्याय की दर्पणटीका और दिवाकर उपाध्याय की उद्योतटीका विद्यमान हैं, तथापि शंकर मिश्र ने परिशुद्धि की मात्र योजना को उद्देश्य में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इनकी रचना के बारे में शंकर मिश्र कहते हैं -

पितुर्व्याख्यां कृत्वामनसि भवनाथस्य कृतिनः ।
चतुर्ग्रन्थीग्रन्थीनहमिह विमोक्तुं व्यवसितः ।।

अर्थात् अपने पिता भवनाथ मिश्र की व्याख्या को समझकर मैं यहाँ चतुर्ग्रन्थी (वात्स्यायन-भाष्य, उद्योतकर-वार्तिक, वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका और उदयन की परिशुद्धि) की विषम ग्रन्थियों को खोलने का उद्यम कर रहा हूँ। चतुर्ग्रन्थी पद का यह प्रयोग कदाचित् पहला है। तब से यह प्रयोग अब न्यायदर्शन में अत्यन्त लोकप्रिय या रूढ़ हो गया है, कम से कम मिथिला के नैयायिकों के मध्य।

(2) <u>चिन्तामणिमयूख</u> । यह गंगेश उपाध्याय की <u>तत्त्वचिन्तामणि</u> की टीका है। किन्तु यह ग्रन्थ अप्राप्य है। स्वयं शंकर मिश्र ने इस ग्रन्थ का उल्लेख <u>वादिविनोद</u> (पृ0 59), कणादरहस्य (पृ0 103), लीलावतीकंठाभरण (पृ0 73), उपस्कार (पृ0 154, 161, 189, 341, 351 और 405) तथा आत्मतत्त्वविवेककल्पलता (पृ0 539) में किया है। कुछ लोग इसको शंकर मिश्र की पहली रचना मानते हैं। स्टाइन द्वारा रचित जम्मू कैटलाग पाण्डुलिपि नं0 1537 से पता चलता है कि इस ग्रन्थ का केवल अन्तिम खण्ड अर्थात् शब्दमणिमयूख उपलब्ध

है। इसके आरंभ में शंकर मिश्र लिखते हैं -

तातादधीत्याखिलतन्त्रसारं महार्णवादीन् बहुशो निरूप्य।
श्रीशङ्करेणार्चितशङ्करेण वितन्यते शब्दमणेर्मयूखः ।।

अर्थात् अपने पिता से सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तामणि को पढ़कर तथा महार्णव नामक ग्रन्थ का विवेचन करके शंकर मिश्र ने शब्दमणिमयूख की रचना की है। इस श्लोक से यह भी पता चलता है कि शंकर मिश्र शिव के उपासक थे। इस श्लोक में वर्णित महार्णव नामक ग्रन्थ वत्सेश्वर का मीमांसामहार्णव ग्रन्थ है। जो प्रभाकर-मत का ग्रन्थ है। महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र के अनुसार यह महार्णव मीमांसामहार्णव से भिन्न है[6]। परन्तु उनका कथन उपयुक्त नहीं है। क्योंकि स्वयं गंगेश ने स्वीकार किया है कि गुरुमत से सहायता लेकर उन्होंने तत्त्वचिन्तामणि लिखी। अतः यदि गुरुमत के ग्रन्थ मीमांसामहार्णव के आधार पर शंकर मिश्र ने तत्त्वचिन्तामणि की टीका लिखी तो यह असंगत नहीं है। प्रो० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का भी यही मत है। उनके अनुसार महार्णव का अर्थ यहां मीमांसामहार्णव ही है[7]। इसका उल्लेख शंकर मिश्र ने भी वादिविनोद (पृ० 53) में किया है - महार्णवकारस्तु

औपादानिकेन सह द्वादशपदार्थानाह। अर्थात् औपादानिक के साथ महार्णवकार बारह पदार्थ मानते हैं (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, संख्या, समवाय, सादृश्य, शक्ति, उपकार, संस्कार, तम और औपादानिक)। मानमेयोदय में वर्णित औपादानिक वास्तव में औपाधिक है, ऐसा भी पाठभेद महामहोपाध्याय डा0 गंगानाथ झा ने दिया है [8]। कुछ भी हो, इस उद्धरण से यह सिद्ध हो जाता है कि महार्णव मीमांसामहार्णव ही है और इस विषय में महामहोपाध्याय डा0 उमेश मिश्र की शंका उपयुक्त नहीं है।

शब्दमणिमयूख के अन्त में निम्नलिखित श्लोक महत्वपूर्ण है -

पित्रा यद्भ्यनाशेन व्याहृतं तदिहालिखम् ।
व्याख्यानगुणदोषाभ्यां सम्बन्धोमीत्यपतुर्नमे ।।

यही श्लोक शंकर मिश्र के न्यायलीलावतीकंठाभरण के अन्त में भी है। खण्डनखण्डखाद्य की शांकरी टीका में अनुपलब्धि-खण्डन के अन्त में भी यही श्लोक यों मिलता है -

"व्याख्यानमिदमस्माकं यथा पितृवचस्तथा ।
व्याख्यानगुणदोषाभ्यां सम्बन्धो मम पितुर्नमे ।।

इसका अर्थ है कि मेरे पिता भवनाथ मिश्र ने जो पढ़ाया था उसे मैंने यहाँ लिख दिया है। मेरी व्याख्या के गुण और दोष जो भी हैं, वे मेरे पिता के हैं, मेरे नहीं है। शंकर मिश्र का यह कथन पितृभक्ति का मात्र प्रदर्शन है या वास्तविकता, यह कहना कठिन है। शायद दोनों बातें कुछ हद तक उपयुक्त हैं। शंकरमिश्र के पिता प्राचीन न्याय, वैशेषिक और नव्यन्याय के पंडित थे और शंकर मिश्र ने इन शास्त्रों का ज्ञान उन्हीं से प्राप्त किया था। यह वास्तविकता है। किन्तु ग्रन्थ-लेखन का कार्य शंकर मिश्र ने किया। स्पष्टीकरण और निरूपण उनका है, न कि उनके पिता भवनाथ मिश्र का। अतः वे अपने ग्रन्थों के गुण-दोष के लिए उत्तरदायी हैं।

§3§ किरणावलीनिरुक्तप्रकाश। यह उदयनाचार्य की किरणावली की टीका है। इसका सन्दर्भ कणादरहस्य §पृ0 177§ में शंकर मिश्र ने दिया है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है।

§4§ कणादरहस्य। यह ग्रन्थ चौखम्भा वाराणसी से प्रकाशित है। इसके आरम्भ में शंकर मिश्र कहते हैं - द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानाम् पदार्थानाम् तत्वज्ञानम् निःश्रेयसहेतु रिति प्रशस्तपादाचार्यभाष्य व्याख्याछलेन कणादरहस्यं व्याख्यस्यामः। अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म,

सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थों का तत्वज्ञान निःश्रेयस का हेतु है, इस सिद्धान्त की व्याख्या यहाँ कणादरहस्य में प्रशस्त-पादाचार्य के भाष्य की व्याख्या के बहाने की जा रही है। इस प्रकार शंकर मिश्र कणादरहस्य को प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या कहते हैं। परन्तु यह व्याख्या किसी भी अर्थ में टीका, वृत्ति या भाष्य नहीं है। यह प्रशस्तपादभाष्य के विषयों की स्वतन्त्र विवेचना है। दूसरे शब्दों में यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

﴾5﴿ आत्मतत्वविवेककल्पलता । यह उदयन के आत्मतत्वविवेक की टीका है। इसे बौद्धाधिकारव्याख्या भी कहा जाता है क्योंकि आत्म-तत्वविवेक का नाम बौद्धाधिकार या बौद्धधिक्कार भी है। इसका प्रकाशन बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज में हुआ है। इसमें बौद्धों के अनात्मवाद का खंडन है।

﴾6﴿ न्यायकुसुमांजलि-आमोद । यह उदयनाचार्य की न्यायकुसुमांजलि के कारिका भाग और गद्यभाग दोनों की टीका है। इसका प्रकाशन मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्यूट दरभंगा से 1972 में गुणानन्द वरदराज और हरिहर कृपालु द्विवेदी की टीकाओं के साथ हुआ है। इसमें ईश्वरवाद को स्थापित किया गया है।

(7) न्यायकुसुमांजलिका एक व्याख्या । इस समय रामभद्र सार्वभौम की न्यायकुसुमांजलि का एक व्याख्या मिलती है जिसके आरंभिक भाग शंकर मिश्र के लिखे हुए हैं। इस तथ्य की खोज सबसे पहले महामहो- पाध्याय गोपीनाथ कविराज ने की। उनको इसकी एक पाण्डुलिपि मिली थी जिसमें यह वाक्य लिखा है -

लिङ्गादेरभावात् इत्यन्तं शंकरमिश्रीयं ततः सार्वभौमीयं।

अर्थात् लिङ्गादेरभावात् तक शंकर मिश्र की रचना है और उसके बाद रामभद्र सार्वभौम की व्याख्या है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में जो तीन श्लोक हैं वे निश्चय ही शंकर मिश्र-रचित हैं। पहला श्लोक वही है जो आमोद का मंगला- चरण है। दूसरा श्लोक निम्नलिखित है -

भवानी भवनाथाभ्यां पितृभ्यां प्रणमाम्यहं ।
यत्प्रसादादिदं शास्त्रं करे क्षीरोपमं कृतम् ।।

अर्थात् मैं अपने माता-पिता भवानी और भवनाथ को प्रणाम करता हूँ जिनके प्रसाद से यह शास्त्र मेरे लिए वैसे ही है जैसे हाथ में रखा हुआ दूध। फिर तीसरा श्लोक निम्नलिखित है -

मकरन्दे प्रकाशे या व्याख्या परिमलेऽथवा ।
ततोऽधिकां विदुर्व्याख्यानव्याख्यामनुक्रम: ।।

अर्थात् न्यायकुसुमांजलि पर मकरन्द, प्रकाश और परिमल नामक व्याख्याएं हैं। उनसे अधिक मेरे पिता की व्याख्या है। उसका ही विवेचन मैं यहाँ करने जा रहा हूँ। यहाँ महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का कहना ठीक है कि यहाँ रुचिदत्तोपाध्यायकृत मकरन्द, वर्धमानकृतप्रकाश और दिवाकर उपाध्यायकृत परिमल का उल्लेख है। ये सभी ग्रन्थकार शंकर मिश्र के पूर्ववर्ती थे।

कुछ लोग समझते हैं कि न्यायकुसुमांजलिकारिकाव्याख्या और आमोद दोनों एक ही ग्रन्थ हैं। परन्तु अब आमोद का स्वतन्त्र प्रकाशन हो गया है और शंकर मिश्र रचित उपर्युक्त न्यायकुसुमांजलि-कारिकाव्याख्या आमोद में नहीं मिलती है। इस तथ्य को प्रो० दिनेश भट्टाचार्य ने भी स्वीकार किया है [1]। अतः इस अपूर्ण न्यायकुसुमांजलि कारिकाव्याख्या को शंकर मिश्र के आमोद से भिन्न ग्रन्थ मानना चाहिए।

(8) <u>वैशेषिकसूत्रोपस्कार</u> । यह कणाद के वैशेषिक सूत्र की वृत्ति है। इसके आरंभिक दो श्लोकों से ज्ञात होता है कि शंकर मिश्र को उनके पिता भवनाथ मिश्र ने वैशेषिक दर्शन में व्युत्पन्न किया था। संभवतः शंकर मिश्र के समय तक वैशेषिक सूत्र पर कोई अच्छी टीका नहीं थी। यद्यपि शंकर मिश्र ने 1/1/2, 1/2/3 और 6, 4/1/7, 9/2/13 आदि सूत्रों की वृत्ति में एक वृत्तिकार का सन्दर्भ दिया है, तथापि

लगता है कि वह वृत्ति सम्पूर्ण नहीं थी। इसीलिए शंकर मिश्र ने आरंभिक श्लोक तीन में लिखा है कि केवल सूत्रों को छोड़कर किसी प्राचीन व्याख्या का आश्रय उनको इस ग्रन्थ के लेखन में नहीं मिला। और उनकी यह रचना वैसे ही है जैसे वे बिना किसी आधार के आकाश में खेल खेलते हों। यह सुन्दर श्लोक निम्नलिखित है -

सूत्रमात्रावलम्बेन निरालम्बेऽपि गच्छतः ।
खे खेलवन्ममाप्यत्र साहसं सिद्धिमेष्यति ।।

सूत्र 7/1/22 की वृत्ति में शंकर मिश्र कहते हैं - दृश्यते चेह वाराणस्यां पाटलिपुत्रे च युगपदेव शब्दोत्पत्तिः ।

इस पर महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज कहते हैं कि संभवतः उपस्कार की रचना वाराणसी में हुई थी [10]।

उपस्कार के अन्तिम दो श्लोक शंकर मिश्र की जीवनी को समझने के लिए आवश्यक हैं। प्रथम श्लोक में वे कहते हैं कि वे भवानीतनय और भवनाथसुत हैं तथा भवार्चन {शिव उपासना} में सदा निरत रहते हैं। इससे उनके माता-पिता का नाम ज्ञात होता है औरउनकी शिव-भक्ति का पता चलता है। दूसरे श्लोक से ज्ञात होता है कि उनके शिष्य एक हजार से भी अधिक थे जिनको वे उपस्कार पढ़ाते थे। यह श्लोक निम्नलिखित है -

श्लाघास्पदं यद्यपि नेतरेषामियं कृतिः स्यादुपहास योग्या ।।
तथापि शिष्यैर्गुरुगौरवेण परःसहस्रैः समुपासनीया ।।

यद्यपि इस समय उपस्कार ही वैशेषिक सूत्र की प्राचीनतम वृत्ति है और इसका अध्ययन निरन्तर किया जा रहा है तथापि लगभग तीन सौ वर्षों तक इस पर कोई टीका नहीं लिखी गई थी। बाद में महामहोपाध्याय पंचानन तर्करत्न ने इस पर परिष्कार नामक व्याख्या लिखी जो कलकत्ता से प्रकाशित है। दूसरी व्याख्या पंडितराज विश्वनाथ झा ने की है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसका हिन्दी अनुवाद ढुण्ढिराज शास्त्री ने किया है जो 1969 में चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से प्रकाशित हुई है। उपस्कार के कारण ही शंकर मिश्र को प्राय: वृत्तिकार कहा जाता है। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

§7§ न्यायलीलावतीकंठाभरण। यह श्री वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती की टीका है जिसका प्रकाशन वर्धमान-रचित न्यायलीलावतीप्रकाश के साथ चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से 1934 ई0 में हुआ है। इसके आरंभिक श्लोक में शंकर मिश्र कहते हैं कि उन्होंने अपने पिता की व्याख्या को समझकर न्यायलीलावती की व्याख्या लिखी है।

पितुर्व्याख्यां कृत्वा मनसि भवनाथस्य कृतिनो ।
वयं लीलावत्या: प्रथयितुमिहोक्तिं व्यवसिता:।
तदेतस्मिन् कर्मण्यतिगुरुणि गौरीपरिवृढे
दृढा भक्ति: शक्तिं जनयतु यथा स्याम निपुणा: ।।

इस ग्रन्थ के अन्त में शंकर मिश्र लिखते हैं कि मेरे पिता भवनाथ मिश्र ने लीलावती की व्याख्या अपने बड़े भाई जीवनाथ से सुनी थी और फिर भवनाथ मिश्र ने मुझको (शंकर मिश्र को) पढ़ाया। मेरे पिता ने जैसी व्याख्या की थी वैसी ही मैंने लिख दी है।

(10) <u>खण्डनखण्डखाद्य टीका</u> । यह श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य की टीका है। इसको प्रायः शांकरी कहा जाता है और यह शंकर मिश्र का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसके आरंभिक श्लोक तीन में शंकर मिश्र कहते हैं कि इसमें मैंने अपने पिता की सूक्तियों का गुम्फन किया है और इसके लिखने से विद्वानों का आनन्दवर्धन हुआ है -

भवनाथसूक्तिगुम्फनमिह खण्डनखाद्यटीकायाम्।
श्री शङ्करेण विदुषा विदुषामानन्दवर्द्धनं क्रियते ।।

इसके आधार पर इस टीका का नाम भी आनन्दवर्धन हो गया है। इसी प्रकार स्वयं शंकर मिश्र ने इसको शांकरी नाम प्रदान किया है और कहा है कि यह टीका खण्डनखण्डखाद्य की कठिन ग्रंथियों को खोलने वाली है -

या सूक्तिर्भवनाथवक्त्रकमलादुद्गत्वरी तत्कृतम्।
सौभाग्यं प्रतिपद्य शुद्धमतिभिः श्लाघापदं लम्भिता ।।
न्यस्ता सज्जनमानसे विजयतामापुष्पवन्तोदयम्।
ग्रन्थग्रन्थिविमोचनाय रचना वाचामियं <u>शाङ्करी</u>" ।।

यहां शंकर मिश्र यह भी कहते हैं कि इस ग्रन्थ में उन्होंने जो कुछ श्लाघनीय लिखा है वह सब उनके पिता के मुख से निकला है। इस ग्रन्थ के बारे में भी वे कहते हैं कि यह उनके पिता के वचन का ही उपन्यास है।

व्याख्यानमिदमस्माकं यथा पितृवचस्तथा ।
व्याख्यानगुणदोषाभ्यां सम्बन्धो मे पितुर्न मे[12]।

फिर इसके अन्त में भी वे कहते हैं कि उनके पिता ने भी खण्डनखण्डखाद्य को अपने बड़े भाई जयनाथ (जीवनाथ ?) से पढ़ा था।

स्वभ्रातुर्जयनाथस्य व्याख्यामाख्यातवान् यतः ।
प्रीत्या भवनाथोयं तामिहाभिलिख्युज्ज्वलाम् [13]।।

इस टीका में शंकर मिश्र ने कई स्थानों पर श्री हर्ष के मतों का जो खण्डन किया है उसका वर्णन आगे किया जायेगा। यहां केवल यह उल्लेखनीय है कि प्रगल्भमिश्र और रघुनाथविद्यालंकार जैसे दार्शनिकों ने शांकरी का मार्मिक अध्ययन किया और श्री हर्ष के पक्ष में शंकर मिश्र के प्रतिवादों का प्रत्युत्तर दिया। निःसन्देह खण्डनखण्डखाद्य को नैयायिकों के बीच लोकप्रिय बनाने का श्रेय श्री शंकर मिश्र को ही है। उन्होंने इसको वितण्डावाद का ग्रन्थ बना दिया।

(11) भेदप्रकाश या भेदरत्न। यह शंकर मिश्र का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसमें अभेद का खण्डन किया गया है। इसमें शंकर मिश्र कहते हैं कि भेदरूपी

रत्न की रक्षा करने के लिए तार्किकगण चौकीदार हैं इसलिए करते हैं कि इस रत्न की चोरी करने वाले वेदान्ती इसका निरसन न कर सकें -

भेदरत्नपरित्राणे तार्किका एवं यामिकाः ।
अतो वेदान्तिनः स्तेननिन्नरस्य...शङ्करः ।।

इस ग्रन्थ के लिखने से स्पष्ट हो गया है कि वास्तव में शंकर मिश्र खण्डनखण्डखाद्य के आलोचक थे। यह भी सिद्ध हो गया कि इसकी रचना खण्डनखण्डखाद्य-टीका के पहले की गई थी क्योंकि खण्डनखण्डखाद्य टीका में दो स्थानों पर इसका उल्लेख किया गया है [14]। अतः यह प्रश्न उठता है कि खण्डनखण्डखाद्य की टीका लिखते समय शंकर मिश्र ने खण्डनखण्डखाद्य का पूरा खण्डन क्यों नहीं किया ? क्यों उन्होंने प्रायः खण्डनखण्डखाद्य की समर्थनात्मक व्याख्या की ? क्यों कुछ ही स्थलों पर उन्होंने श्रीहर्ष का खण्डन किया ? इसका एक संतोषजनक उत्तर यह प्रतीत होता है कि आलोचना के स्थलों को छोड़कर शंकर मिश्र को अन्य स्थलों पर किये गये प्रतिपादन मान्य थे।

कुछ भी हो, भेदरत्न या भेदप्रकाश का प्रभाव अद्वैतवेदान्त पर बहुत अधिक पड़ा है। इसके खण्डन के लिए मधुसूदन सरस्वती को अद्वैतरत्नरक्षण नामक ग्रन्थ लिखना पड़ा जिसमें उन्होंने शंकर मिश्र की ही शैली में इस प्रकार प्रत्युत्तर दिया है -

अद्वैतरत्नरक्षायाँ तार्तिवका एव यामिका: ।
अतोन्यायविद: स्तेनान्निरस्याम: स्वयुक्तिभि:।।

अर्थात् अद्वैतरूपीरत्न की रक्षा करने के लिए तत्वज्ञानी ही पहरेदार सिपाही हैं जो उस रत्न को चुराने के तार्किकों को अपनी युक्तियों से दूर करते हैं।

§12§ वादिविनोद । यह शंकर मिश्र का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसे संपादित करके महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा ने 1915 ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित कराया। इसका उद्देश्य खण्डनखण्डखाद्य के समान है। इसमें शंकरमिश्र ने विविध दर्शनों का विवेचन किया है। उनके विवेचन का उद्देश्य विद्वानों के अहंकार को दूर करना तथा जिज्ञासु को सहायता देनी है। यह सहायता कथा से, प्रश्न से, प्रश्न के ज्ञान से, प्रश्नपराघात से और प्रश्न के अनुत्तर से दी गई है। इसमें पांच उल्लास हैं। महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने इस ग्रन्थ का प्रभाव जयराम के द्वारा रचित न्यायसिद्धान्तमाला पर दिखाया है [15]। उन्होंने यह भी खोज निकाला है कि इस ग्रन्थ में मुख्यत: निम्नलिखित लेखकों और ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं :

सानातनि, रत्नकोशकार, चिन्तामणिकृत्, शिवादित्य मिश्र, मणिकनाथ, उदयनाचार्य, लीलावतीकृत्, वल्लभाचार्य, प्राभाकर, त्रिदण्डी वेदान्ती, शंकराचार्य, टीकाकृत्, खण्डनकार, निबन्धकृत्

प्रभाकर, चन्द्र मुरारि मिश्र, महार्णवकार, धर्मकीर्ति, दिग्नाग, ज्ञानश्री, सोम सिद्धान्त, एकदेशीमण्डन, श[illegible], न्यायालोचनकृत्, जीवनाथ मिश्र, नवीनमीमांसकमत, सोनदण्ड उपाध्याय मण्डन मिश्र, वाचस्पतिमिश्र द्वितीय[16] ।

शंकर मिश्र के उपर्युक्त सभी ग्रन्थों पर पुनर्विचार करने से ज्ञात होता है कि एक दृष्टि से ये बारह ग्रन्थ निम्नलिखित चार कोटियों में बंटे हैं -

(1) प्राचीन न्याय (त्रिसूत्रीनिबन्ध व्याख्या) ।

(2) वैशेषिक दर्शन (वैशेषिकसूत्रोपस्कार, किरणावली निरुक्ति प्रकाश, कणाद रहस्य, न्यायलीलावतीकंठाभरण)।

(3) नव्यन्याय। चिन्तामणिमयूख, [illegible], न्यायकुसुमांजलिकारिका व्याख्या, आत्मतत्त्वविवेक[illegible], भेदप्रकाश, वादिविनोद)।

(4) अद्वैतवेदान्त (खण्डनखण्डखाद्यटीका) ।

किन्तु यह [illegible] नव्य न्याय के दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य , महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण और महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने शंकर मिश्र को मिथिला के नव्यन्याय के तार्किकों की श्रेणी में

रखा है। शंकरमिश्र शुद्ध नव्यनैयायिक हैं। प्राचीन न्याय, प्राचीन वैशेषिक और खण्डनखण्डखाद्य पर उन्होंने जो कुछ लिखा है वह सब नव्यन्याय के अनुसार है। उन्होंने नव्यन्याय की धारा में गंगेश के तत्वचिन्तामणि के साथ उदयन के ग्रन्थों, [illegible], खण्डनखण्डखाद्य तथा प्रशस्तपादभाष्य को भी जोड़ दिया है। नव्य-न्याय में न्याय और वैशेषिक दोनों एक-से हो गये हैं, क्योंकि नव्यन्याय के आलोक में दोनों के पुराने भेद दूर हो गए हैं। फिर, खण्डनखण्डखाद्य स्पष्टतः कथा, वाद, जल्प और वितण्डा से सम्बन्धित होने के कारण नव्यन्याय के विषयों के अन्तर्गत है। और भी, श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में उदयन का खण्डन किया है। बिना उस खण्डन का प्रतिवाद किए उदयन की परम्परा का नव्यन्याय चल नहीं सकता था। इस कारण खण्डनखण्डखाद्य का विधिवत् खण्डन करना नव्यन्याय के अन्दर ही है। इस दृष्टि से देखा जाए तो शंकर मिश्र के सभी ग्रन्थ नव्यन्याय के ग्रन्थ हैं।

{3} शंकर मिश्र का समय

{1} शंकर मिश्र के काल-निर्धारण में कुछ भ्रान्तियां फैली हुई हैं। पहली भ्रान्ति डा० औफ्रेक्ट के द्वारा की गई है। उन्होंने आक्सफोर्ड से प्रकाशित संस्कृत पाण्डुलिपियों की सूची में जिसका शीर्षक कैटालोगस कैटालोगरम है, लिखा है कि शंकर मिश्र के ग्रन्थ भेदप्रकाश का उल्लेख

सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरक के निम्नलिखित श्लोक में किया है -

एवं समन्वयनिरूपणजातबोधो
जातोऽप्यखण्डविषयो ननु वाक्यजन्यः।
मानान्तरेण परिपीडित एव जातो ।
भेदप्रकाशनकृताक्षिनिबन्धनेन ।।

यहाँ भेदप्रकाशनकृत का अर्थ डा० आफ्रेक्ट ने भेदप्रकाशकृत् शंकर मिश्र किया है [17]।

इसी आधार पर डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने शंकर मिश्र को सर्वज्ञात्ममुनि का पूर्ववर्ती माना है [18]। किन्तु सर्वज्ञात्ममुनि का समय उदयनाचार्य के भी पहले है और शंकरमिश्र सर्वज्ञात्ममुनि के पहले नहीं थे। उपर्युक्त भ्रान्ति का कारण संक्षेपशारीरक के पद भेदप्रकाशन को शंकर मिश्र का ग्रन्थ भेदप्रकाश समझ लेना है। वास्तव में उसका अर्थ भेद का निरूपण है, न कि किसी ग्रन्थ का नाम।

पुनश्च, महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा ने वादिविनोद के उपोद्घात में लिखा है कि शंकर मिश्र का काल लगभग विक्रमी संवत् 1585 है [19]। किन्तु महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की खोजों ने डा० गंगानाथ झा के मत का भी खण्डन कर दिया है। कविराज जी को गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारस पुस्तकालय में खण्डन-खण्डखाद्य की एक पाण्डुलिपि मिली जिसमें लिपिकार ने लिखने का समय संवत् 1529 अर्थात् 1462 ई० दिया है [20]।

पुनश्च, जम्मू के रघुनाथ मन्दिर में संवत् 1519 विक्रमी या 1462 ई0 की लिखी भेदप्रकाश की एक प्रति सुरक्षित है जिसका उल्लेख स्टाइन की सूची में है [21]। शकाब्द 1410 अर्थात् ई0 1488 में शंकर मिश्र की चतुष्पाठी में न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की एक प्रतिलिपि की गई थी जो इस समय नेपाल में है[22]।

अन्त में, यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि वर्धमान उपाध्याय ने न्यायकुसुमांजलि की स्वरचित टीका में शंकर मिश्र के आमोद का उल्लेख किया है। इन सब तथ्यों से सिद्ध है कि शंकर मिश्र का आविर्भावकाल 15वीं शताब्दी का द्वितीय चतुर्थांश है अर्थात् उनकी कृतियों का काल 1425 से लेकर 1450 ई0 तक अवश्य है। इस प्रकार शंकर मिश्र अभिनव वाचस्पति मिश्र और पक्षधर मिश्र के समकालीन सिद्ध होते हैं।

§5§ शंकर मिश्र का देश और वंश

शंकर मिश्र मैथिल ब्राहमण थे जिनकी कुलपरम्परा और जिनके वंशज आज तक बने हुए हैं। वे मैथिल श्रोत्रिय ब्राहमण थे। उनके बीजी पुरुष हलायुध मिश्र थे जो मिथिला के सिंहासमय कुल में उत्पन्न हुए थे। हलायुध-कुल के परिवार में

ही उनके वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र सुरेश्वर मिश्र हुए जो सोदरपुर में रहने लगे। इन्हीं सुरेश्वर मिश्र के प्रपौत्र भवनाथ मिश्र थे जिनके पुत्र शंकर मिश्र थे। महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र इसी सोदरपुर के मैथिल ब्राह्मण थे जिन्होंने भारतीय दर्शन दो भागों में अंग्रेजी में लिखा है। इस ग्रंथ के दूसरे भाग में उन्होंने शंकर मिश्र की वंशावली का विवरण अपने पुत्रों तक दिया है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का मत है, और वह उचित लगता है, कि शंकर मिश्र अपने जीवन के अन्तिम समय में काशीवास करने के लिए काशी आए थे। काशी में ही उन्होंने वैशेषिक सूत्रोपस्कार लिखा। यहीं वेदान्तियों के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ जिसके विषय-बिन्दु भेदरत्न में तथा शांकरी में मिलते हैं [23]। शंकर मिश्र ने स्वयं अपनी आत्मकथा का निरूपण यत्र-तत्र अपने ग्रन्थों में किया है जिसका परिचय ऊपर दिया गया है। इस विवरण से सिद्ध होता है कि शंकर मिश्र के पिता भवनाथ मिश्र थे और माता भवानी थी। भवनाथ मिश्र के बड़े भाई जीवनाथ मिश्र थे। ये दोनों भाई न्यायवैशेषिक, मीमांसा और व्याकरण के महान् पंडित थे। शंकर मिश्र ने लिखा है कि भवनाथ मिश्र ने इन शास्त्रों का अध्ययन अपने भाई जीवनाथ मिश्र से किया था। उन्होंने यह नहीं लिखा कि उन्होंने भी जीवनाथ मिश्र से पढ़ा था। उन्होंने सारा ज्ञान अपने पिता भवनाथ मिश्र से ही

प्राप्त किया था। इससे सिद्ध होता है कि शंकर मिश्र के शिक्षाकाल से पूर्व जीवनाथ मिश्र का स्वर्गवास हो गया था। शंकर मिश्र के गाँव सरिसव में एक चतुष्पाठी थी जहाँ बहुत से छात्र पढ़ते थे। उनका परिवार निश्चित रूप से विद्वानों का परिवार था। नव्यन्याय के दर्शन में इस परिवार का विशिष्ट योगदान है।

(5) शंकर मिश्र का वैशिष्ट्य

शंकर मिश्र का योगदान नव्यन्याय के क्षेत्र में प्रत्येक विषय पर है। किन्तु उनका वैशिष्ट्य वह स्थान है जहाँ से नैयायिकों द्वारा अद्वैतवेदान्त की आलोचना का शुभारंभ होता है। वास्तव में शंकर मिश्र ने एक महान् क्रान्ति की है। इस क्रान्ति के दो पक्ष हैं - (1) श्री हर्ष द्वारा खण्डनखण्डखाद्य में किए गए न्यायदर्शन के खण्डन का प्रतिवाद करना और (2) अद्वैत वेदान्त का निराकरण करना तथा उसके विरोध में भेद की सिद्धि करना।

यह उल्लेखनीय है कि श्रीहर्ष से पूर्व अद्वैतवेदान्तियों ने न्याय-दर्शन का खण्डन नहीं किया था। शंकराचार्य ने यद्यपि वैशेषिक दर्शन का खण्डन किया है तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र न्यायदर्शन के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने

न्यायदर्शन और अद्वैतदर्शन के समन्वय को अग्रसार किया है। उनका जो स्थान न्यायदर्शन में है प्राय: वही स्थान अद्वैतवेदान्त में भी है। यह कहना कठिन है कि वाचस्पति मिश्र वस्तुत: नैयायिक थे या अद्वैतवेदान्ती। कदाचित् आरम्भ में वे नैयायिक थे और अन्त में वेदान्ती। परन्तु इस क्रम में उन्होंने वेदान्त के मनन-व्यापार के साथ न्याय-दर्शन की न्यायचर्या का समन्वय किया था जिसकी अभिव्यक्ति उसके बाद उदयनाचार्य ने अपने ग्रन्थ न्यायकुसुमांजलि और आत्मतत्वविवेक में की है। यद्यपि उदयनाचार्य ने अद्वैतवेदान्त का स्पष्ट खण्डन नहीं किया है तथापि उनके ग्रन्थों और विचार-धारा में अद्वैतवेदान्त के खण्डन के बीज मिलते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने शास्त्रार्थ में अद्वैतवेदान्ती श्रीहरि को परास्त किया था। अतएव पंडित श्रीहरि के पुत्र श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ खण्डनखण्ड-खाद्य में उदयन के मतों का खण्डन किया और अद्वैतवेदान्त को न्यायदर्शन के खण्डन की ओर मोड़ दिया। शंकर मिश्र ने और अभिनव वाचस्पति मिश्र ने श्रीहर्ष के खण्डन का निराकरण किया और अद्वैतवेदान्त के विरोध में न्यायदर्शन की स्थापना की। इस कार्य में अभिनव वाचस्पति मिश्र ने खण्डनोद्धार नामक ग्रन्थ लिखा। परन्तु उसकी ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया और उनके खण्डनोद्धार का उद्धार या खण्डन किसी ने नहीं किया। इसके विपरीत शंकर मिश्र ने अद्वैतवाद का जो खण्डन किया उसके

उसके निराकरण के लिए परवर्ती नैयायिकों और अद्वैतवेदान्तियों ने कई ग्रन्थ लिखे। प्रगल्भमिश्र या शुभंकर और रघुनाथ विद्यालंकार ने शंकर मिश्र के आनन्दवर्धन का खण्डन क्रमशः खण्डनदर्पण और भाषामणि नामक खण्डनखण्डखाद्य की स्वरचित टीकाओं में किया। मधुसूदन सरस्वती ने भेदरत्नका खण्डन अद्वैतरत्नरक्षण में किया और नृसिंहाश्रम स्वामी ने भेद का खण्डन करने के लिए भेदधिक्कार नामक ग्रन्थ लिखा। भेद-अभेद को लेकर इस प्रकार एक चर्चा चली जिसका सूत्रपात श्रीहर्ष ने किया और जो आजतक चल रही है। इस चर्चा का संक्षिप्त परिचय पंडित सूर्य नारायण शुक्ल ने वाराणसी से प्रकाशित भेदसिद्धि की भूमिका में किया है [24]।

अतः स्पष्ट है कि शंकर मिश्र का स्थान अद्वैतवेदान्त के खण्डन में सर्वोपरि है। आजतक नैयायिक उनके खण्डन से प्रेरणा ले रहे हैं। स्वयं शंकर मिश्र ने इस खण्डन की प्रेरणा विशेषरूप से अपने पिता और उदयनाचार्य से प्राप्त कीथी। उनके अद्वैतमतखण्डन का एक सुखद परिणाम यह हुआ कि परवर्ती अद्वैतवेदान्तियों ने भी अपने अद्वैत दर्शन को न्याय-दर्शन की प्रमाणमीमांसा के आधार पर स्थापित किया।

पादटिप्पणी और सन्दर्भ -

1- "Except perhaps the great Pakṣadhara, Śaṅkara Miśra had few equals in Mithila since the days of Gaṅgeśa. His influence and popularity were immense, and though he was primarily no more than a commentary writer, his services in the cause of the philosophy to which he owned allegiance were assuredly very great".

Gleanings from the History and Bibliography of the Nyaya - Vaiseṣika Literature by Gopi Nath Kaviraj, Indian studies, past and Present, Calcutta, 1961, Page 41.

2- वही॰ पृ0 45 टिप्पणी 27॰

3- *History of Nvaya Nyaya in Mithila*, D.C. Bhattacharya Darbhanga 1958, P. 136.

4- वहीं · पृ0 143·

5- In the cultural history of Mithila Śankara Miśra's name occupies a unique place. It is certain that he wrote mostly commentaries on most difficult works, but they added to the glory of Mithila, which brought a new life amongst the scholars and revived the study of Prācīna-Nyāya and Vaiśeṣika once more. He was both a Naiyāyika and a Vaiśeṣika But with equal skill and merit he wrote also on Vedanta and defended the position of Naiyāyikas against the onslaught of the Advaitins."

History of Indian Philosophy Vol.II, by MM. Umesha Mishra, Tirabhukti Publication, Allahabad. First Edition 1966, Page 301.

6- डा0उमेश मिश्र, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 308।

7- प्रो0 दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 136,

प्रो0 भट्टाचार्य ने मीमांसामहार्णव के लेखक का नाम वटेश्वर दिया है। किन्तु जैसा कि नारायण मिश्र लिखते हैं, मीमांसा महार्णव के लेखक वटेश्वर हैं। देखिये, वैशेषिक सूत्रोपस्कार, चौखम्भा, वाराणसी, 1969, प्रस्तावना, पृ0 12.

8- वादिविनोद, संपादक डा0 गंगानाथ झा, इलाहाबाद 1915, पृ0 53, टिप्पणी 2.

9- प्रो0 दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 132.

10- डा0 गोपीनाथ कविराज, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 41.

11- शांकरी सहित खण्डनखण्डखाद्य, हिन्दी अनुवाद, अनुवादक स्वामी हनुमानदास, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1970, शांकरी, पृ0 418.

12- वही. पृ0 417.

13- वही. पृ0 754.

14- खण्डनखण्डखाद्य शांकरी सहित, बनारस, 1888 में पंडित साधु मनमोहनलाल द्वारा संपादित पृ0 61 और 124 । देखिये, प्रो0 दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 138 .

15- देखिए, डा0 उमेश मिश्र, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 440 .

16- देखिए, डा0 उमेश मिश्र, उपरिउद्धृत ग्रन्थ, पृ0 311.

17- कैटालोगस कैटालोगोरम, औफ्रेक्ट, आक्सफोर्ड भाग 1, पृ0 416.

18- देखिए, A History of Indian Logic, सतीश चन्द्र विद्याभूषण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1978, पृ0 459.

19- देखिए, [illegible], सं० डा० गंगानाथ झा, इलाहाबाद, 1915, पृ० 1-2.

20- देखिए, Gleanings from the History and Bibliography of Nyāya Vaiśesika Literature, p 45.

21- वही, पृ० 45.

22- काशी की सारस्वतसाधना, डा० गोपीनाथ कविराज, पटना, 1965, पृ० 10.

23- वही. पृ० 9.

24- भेदसिद्धि, संपादक सूर्यनारायण शुक्ल वाराणसी, 1933 भूमिका।

—x—

द्वितीय अध्याय

शंकर मिश्र पर उदयन का प्रभाव

1- न्याय-वैशेषिक का मिलन

आचार्य उदयन प्राचीन न्याय के अन्तिम आचार्य और नव्यन्याय के प्रथम आचार्य थे । उन्होने वाचस्पति मिश्र के न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका पर परिशुद्धि नामक निबन्ध लिखा है जो प्राचीन न्याय का अन्तिम महान् ग्रन्थ है । इसके अतिरिक्त उन्होंने न्यायकुसुमाञ्जलि और आत्मतत्वविवेक नामक प्रकरण ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनके ऊपर अनेक नैयायिकों ने टीकाएँ लिखी हैं । इन दोनों ग्रन्थों में नव्यन्याय के बीज हैं । उन्होंने "न्यायपरिशिष्ट" नामक एक **अन्य** ग्रन्थ लिखा है जो न्यायसूत्र की वृत्ति है । वैशेषिक दर्शन पर उन्होंने प्रशस्तपादभाष्य की टीका किरणावली तथा वैशेषिक - दर्शन का सारभूत लक्षणावली नामक निबन्ध लिखे । इन ग्रन्थों से सिद्ध होता है कि उन्होंने केवल न्याय और वैशेषिक दर्शनों पर ग्रन्थ लिखे हैं । संभवत: न्याय और वैशेषिक को एक दर्शन में परिणात करने का उपक्रम सर्वप्रथम आचार्य उदयन ने ही किया है । उनके पूर्ववर्ती नैयायिक भासर्वज्ञ थे जिन्होंने तो वैशेषिक दर्शन का कहीं- कहीं खण्डन किया था । शंकर मिश्र आचार्य उदयन के भाष्यकार हैं । उन्होंने सबसे अधिक उदयन के ग्रन्थों पर ही टीकाएँ कीं । शंकर मिश्र ने आचार्य उदयन के चार ग्रन्थों का व्याख्यान लिखे । जिनमें न्याय और वैशेषिक दोनों के ग्रन्थ सम्मिलित हैं । उदयन की गद्य- शैली का भी पूर्ण अनुसरण शंकर मिश्र के ग्रन्थों में मिलता है ।दोनों आचार्यों की प्रवृत्ति न्याय- वैशेषिक के समन्वय से नव्यन्याय की ओर बढ़ी हैं ।

2- क्या उदयन अद्वैतवादी हैं ?

यद्यपि उदयन ने अद्वैतवेदान्त पर कभी ग्रन्थ नहीं लिखा और न्याय दर्शन को अद्वैत वेदान्त से श्रेष्ठ दिखलाया है, तथापि अनेक क्षेत्रों में यह मान्यता प्रचलित है कि उदयन ने अद्वैत वेदान्त का समर्थन किया है । अत: इस मान्यता की समीक्षा करना आवश्यक है ।

सर्वप्रथम अद्वैतसिद्धि में मधुसूदन सरस्वती ने और उसकी टीका गौडब्रह्मानंदी में ब्रह्मानन्द सरस्वती ने उदयन के निम्नलिखित श्लोक से निष्कर्ष निकाला कि उदयन ने अद्वैत वेदान्त का समर्थन किया है :-

न ग्राह्य भेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति

स्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्री: ।

नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं

तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाश: [1] ।

अर्थात् ग्राह्य विषय के भेद को छोड़कर बुद्धि की कोई वृत्ति नहीं है । ज्ञान सदैव सविषयक होता है । यदि इस दृष्टि का कोई बाधक हो सकता है अर्थात यदि ज्ञान निर्विषयक हो सकता है तो हमारे वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्माद्वैत के हाथ विजयश्री लगती है, अन्यथा यह विषयी-विषय- भाव से व्यवस्थित विश्व जैसे-का-तैसा सिद्ध होता है । अत: तथागत -मत अर्थात् बौद्धमत के लिये अवकाश कहाँ है ?

ऐसा उदयन ने बौद्ध विज्ञानवाद के, जिसे वे साकारज्ञानवाद कहते हैं, खण्डन में कहा है । उनका उपर्युक्त श्लोक ज्ञानश्रीमित्र के निम्नलिखित कथन का प्रतिपद- खण्डन है -

नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति :
तद्बाधके बलिनि मध्यनये जयश्री : ।
नो चेदनिन्द्यमिदमद्वयमेव चित्रम्
चेतो निराकृतिमतस्य तु कोऽवकाश : [2] ।

अर्थात् ज्ञान अपने आकार को छोड़कर प्रवृत्त नहीं होता है। यदि आकार का बाधक कोई प्रमाण आ जाय तो हमारे माध्यमिक दर्शन की विजय होगी अन्यथा योगाचार - सम्मत चित्रज्ञानाद्वयवाद अर्थात् साकार ज्ञानाद्वयवाद अबाधित हो जायगा । इस प्रकार निराकारज्ञानवाद के लिये कोई अवसर नहीं है ।

स्पष्ट है कि ज्ञानश्रीमित्र साकारज्ञानवाद को मानते हैं अर्थात् उनके मत से ज्ञान साकार होता है । इसके विपरीत उदयन के मत से ज्ञान निराकार होता है । उदयन ने ज्ञानश्रीमित्र का जो खण्डन किया है उससे यही सिद्ध होता है कि उन्होंने बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन किया है । यदि उनके खण्डन से बचने के लिये बौद्ध विज्ञानवादी शून्यवाद की शरण लेते हैं तो उदयन कहते है - रुकिए ।। अदरक के व्यापारी को बहित्र (समुद्र में स्थित पोत) की चिन्ता नहीं है क्योंकि वह सूप आदि पात्र में रखकर ग्राहक को दिखाकर

अदरक बेचता है और पोत में स्थित अदरक को अपने ग्राहक को नहीं दिखा सकता , इसलिये उसे पोत की परवाह नहीं है । इसी प्रकार अनुभव की अवस्था में अनात्मा का परिस्फुरण अनिवार्य है [3] , इसको मानने के लिये आप या तो अद्वैत वेदान्त की अनिर्वचनीयख्यातिवाद को मानिये या अपनी बेवकूफी छोड़कर न्याय- दर्शन के अनुसार नील आदि विषय को (घड़ा नीला है, इस ज्ञान में नीलत्व विषय को) पारमार्थिक सत् मानें । इन दो विकल्पों के अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प नहीं है [4] । वास्तव में जब शून्यवादी शून्य को स्वत: सिद्ध मान लेता है तो उदयन उससे कहते है, "अब आप सही रास्ते पर आ गये अर्थात् मायावाद के मार्ग पर आ गये हैं जो आत्मा को स्वप्रकाश मानता है [5] ।"

इस प्रकार गौड़ ब्रह्मानन्द ने दिखलाया है कि उदयन के मतानुसार बौद्धमत की अपेक्षा न्यायमत ,न्यायमत की अपेक्षा सांख्यमत और सांख्यमत की अपेक्षा अद्वैतमत अधिक उत्कृष्ट है [6] । अत: गौडब्रह्मानन्द कहते हैं कि वेदान्त दर्शन में आचार्य उदयन की महती श्रद्धा है - किञ्च उदयनाचार्याणां वेदान्त दर्शने एव महती श्रद्धा[7] । परन्तु वे उदयन को न्यायमत का परिष्कर्ता ही मानते हैं । जो पुरूष - धौरेय (श्रेष्ठ पुरूष) परम प्रयोजन को सिद्ध करना चाहता हो उसी के लिये उदयन के मतानुसार वेदान्त दर्शन अन्य दर्शन से श्रेष्ठ है [8] , ऐसा गौडब्रह्मानन्द का मत है ।

अत: गौडब्रह्मानंद ने उदयन को प्राय: नैयायिक के रूप में ही ग्रहण किया है और इस कारण उदयन को अद्वैतवेदान्ती की अपेक्षा नैयायिक कहा जाना ही उचित है । ढुण्ढिराज शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि उदयन ज्ञान का भी

विनाश मानते हैं जबकि अद्वैतवेदान्ती ज्ञान को अनश्वर मानते हैं । उदयन के अनुसार ज्ञान गुण है और मुक्ति में न्याय-वैशेषिक के अनुसार सभी गुणों का विनाश हो जाता है । अत: उदयन को अद्वैतवेदान्ती नहीं सिद्ध किया जा सकता है । यदि उनके ग्रन्थों के उपक्रम और उपसंहार का विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि वे नैयायिक हैं, अद्वैतवेदान्ती नहीं [9] ।

परन्तु आधुनिक युग में अनेक विद्वानों ने माना है कि उदयन अद्वैत वेदान्त की ओर झुके हैं । उदाहरण के लिये, वी. वरदाचारी कहते हैं कि उदयन अवश्य अद्वैतवाद की ओर बढ़े हैं क्योंकि उन्होंने अद्वैतवादी सिद्धान्तों का खण्डन नहीं किया[10] । पुनश्च वे कहते हैं कि यद्यपि उदयन अद्वैतवेदान्त के जगत्-मिथ्यात्व का खुलकर समर्थन नहीं करते हैं तथापि वे कहते हैं कि अद्वैतवेदान्तियों ने वास्तविक जगत् के अस्तित्व की उपेक्षा की है । उदयन का ऐसा कहना अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन का सामंजस्य करने का एक कुशलतापूर्ण प्रयास है[11] ।

वास्तव में वरदाचारी ने उदयन के <u>चरमवेदान्त</u> को समझने में भूल की है । उदयन ने न्यायदर्शन को <u>चरमवेदान्त</u> कहा है क्योंकि वह वेद और उपनिषद् का निचोड़ है । उन्होंने " वेदान्त" शब्द का प्रयोग यौगिक अर्थ में किया है । किन्तु वरदाचारी ने उनके इस प्रयोग पर ध्यान न देकर "वेदान्त" को रूढ़ अर्थ में " अद्वैतवेदान्त" के लिये समझ लिया है । वेद और उपनिषद् का निचोड़ क्या है ? इस पर अद्वैतवेदान्तियों और उदयन - जैसे नैयायिकों में विवाद है। -

अद्वैतवेदान्ती केवलाद्वैतवाद, ब्रह्मात्मैक्यवाद को वेद का निचोड़ मानते हैं, जबकि उदयन - जैसे नैयायिक न्याय दर्शन के तत्वज्ञान को वेद का निचोड़ मानते हैं। अत: जब इन दो मौलिक व्याख्यानों में ही अन्तर है तो उदयन को अद्वैतवेदान्त का समर्थक मानना भूल है। वास्तव में उदयन श्रुति-प्रमाण, अनुमान और निदिध्यासन को मानते हुए योगविधि द्वारा ईश्वर-लाभ को मानते है, वे निम्नलिखित स्मृतिवचन को मानते है -

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।।

उदयन स्वंय कहते हैं कि श्रुति से आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना, फिर न्यायपूर्वक उसके स्वरूप का निश्चय करना, फिर श्रद्धापूर्वक उसका साक्षात्कार करना मोक्ष मार्ग है [12] ।

यहां प्रश्न यह नहीं है कि उदयन अद्वैतवेदान्त के पक्षधर है या नहीं। प्रश्न यह है कि वे न्याय और वेदान्त में किसको श्रेष्ठ मानते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में उदयन ने स्पष्टत: आत्मतत्वविवेक के अन्त में समस्त दर्शनों का उपसंहार करते समय कहा है कि न्यायदर्शन अद्वैतवेदान्त से श्रेष्ठ है। अत: उनको नैयायिक मानना ही न्यायसंगत है। वेदान्त में यह प्रचलित भी है कि उदयन ने श्री हर्ष के वेदान्ती पिता को शास्त्रार्थ में पराजित किया था और उस पराजय का बदला लेने के लिये श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य की रचना की। इस परम्परा से यह सिद्ध है कि उदयन नैयायिक हैं।

उदयन को वेदान्ती मानने के पक्ष में आधुनिक युग में काशी के पंडित राजेश्वर शास्त्री द्राविड और उनके नव्यनैयायिक शिष्य हरिराम शुक्ल हैं । उनके विपक्ष में पटना के नैयायिक पं० केदारनाथ ओझा हैं जो उदयन को प्रधानत: नैयायिक और वेदान्त -विरोधी मानते हैं । इन विद्वानों में इस विषय का शास्त्रार्थ अयोध्या से प्रकाशित होने वाले "संस्कृतम् - नामक पत्र में 9-4-1957 से 27-5-58 तक हुआ था । पं० हरिराम शुक्ल ने गौड्ब्रह्मानंद के मत को मानते हुए कई युक्तियाँ और दी थीं जो सिद्ध करती हैं कि उदयन ने जिसे चरम-वेदान्त कहा है वह वास्तव में अद्वैतवेदान्त ही है । परन्तु ढुण्ढिराजशास्त्री के पक्ष का समर्थन करते हुए पं० केदारनाथ ओझा ने पं० हरिराम शुक्ल की समस्त युक्तियों का खण्डन कर सिद्ध किया कि उदयन का चरमवेदान्त अद्वैतवेदान्त नहीं है अपितु न्यायदर्शन की मोक्ष- अवस्था है [13] । उपसंहार में यहां प्रो० वरदाचारी के मत के खण्डन में दी गयी युक्तियों को रेखांकित किया जा सकता है । अत: उदयन वास्तव में नैयायिक ही थे, वेदान्ती नहीं । उनके द्वारा वेदान्त का खण्डन अत्यन्त शिष्ट भाषा में है जो वेदान्त के प्रति उनका मात्र उपेक्षा भाव प्रदर्शित करता है । अत: यह मिथ्याधारणा उत्पन्न हो गयी कि शायद उदयन प्रच्छन्न अद्वैत वेदान्ती थे। किन्तु यह धारणा निर्मूल है ।

3- उदयन का न्यायदर्शन

उदयन आत्मज्ञान को नहीं किन्तु आत्मोपासना को मानते है । इस उपासना में उन्होंने छ: सोपानों को स्वीकार किया है जो निम्नलिखित हैं :-

§1§ पहली अवस्था में बाह्य अर्थ प्रकाशित होते हैं चार्वाक दर्शन प्रकट होता है और उसका [illegible] कर्ममीमांसा में होता है ।

§2§ दूसरी अवस्था में अर्थाकार प्रकाशित होते है जिनका निरूपण योगाचार- दर्शन में होता है और जिसका विकास त्रैदण्डिक मत में होता है । यह त्रैदण्डिक मत संभवत: भागवत दर्शन या वैष्णवमत है ।

§3§ तीसरी अवस्था में अर्थाभाव प्रकाशित होता है जिसका निरूपण शून्यवाद में किया गया है और उपसंहार अद्वैतवेदान्त में होता है ।

§4§ चौथी अवस्था में विवेक प्रकट होता है जिसका निरूपण शाक्तमत में होता है और उपसंहार सांख्य दर्शन में होता है । यहाँ उल्लेखनीय है कि मधुसूदन सरस्वती - जैसे अद्वैतवादियों के विपरीत उदयन सांख्य दर्शन की भूमिका को अद्वैतदर्शन की भूमिका से उच्चतर मानते है । परन्तु वे आगे कहते है कि §5§ पांचवें सोपान में केवल आत्मा प्रकाशित होती है जिसका प्रतिपादन एक ही भाव के दर्शन में किया गया है और उपसंहार अद्वैतमत में होता है । यह अद्वैतमत तृतीय सोपान के अद्वैतमत से भिन्न है । यदि तृतीय सोपान के अद्वैतवेदान्त को ही सच्चा अद्वैतवेदान्त कहा जाय तो इसकी भूमिका सांख्यमत की भूमिका से उच्चतर है । परन्तु इसके ऊपर भी §6§ छठाँ सोपान है जिसमें ~~जिसमे~~ आत्मा भी प्रकाशित नहीं होती है और जिसका निरूपण अनिर्वचनीयता-वाद में होता है । यह अनिर्वचनीयतावाद अद्वैतवेदान्त के अनिर्वचनीयतावाद से भिन्न है ,क्योंकि यहाँ ब्रह्म अनिर्वचनीय है और अद्वैतवेदान्त में माया अनिर्वचनीय है । यह न्यायमत है जहां प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों की गति है, किन्तु

अद्वैतवेदान्त के ब्रह्मवाद में इन प्रमाणों की गति नहीं है । इसी अवस्था को उदयन ने चरमवेदान्त कहा है [14]।

पुनश्च विट्ठलेश उपाध्याय ने अद्वैतसिद्धि की गौड़ब्रह्मानंदी टीका पर टिप्पणी करते हुए न्यायमत और अद्वैतमत में निम्नलिखित समानता और असमानता का प्रतिपादन किया है -

(क) द्वैतमते देहेन्द्रियादिप्रपञ्च: सत्य:, अद्वैतमते तु मिथ्या । मतद्वयेऽपि आत्मन: तद्भिन्नत्वेन श्रवणमनननिदिध्यासनजन्यं तत्साक्षात्काररूपं यत् ज्ञानं तत् मुक्तिसाधनम् । तत्र द्वैते सत्यादपि प्रपञ्चात् सत्येऽप्यात्मनि शब्दादिशून्यत्वात् ज्ञानादिमत्वाच्च भेदधी:, अद्वैतमते तु मिथ्याभूतात्प्रपञ्चात्सत्यस्यात्मनोऽभेदधी: ।

अर्थात् न्यायमत में देह, इन्द्रिय आदि प्रपञ्च सत्य है और अद्वैतमत में ये मिथ्या हैं । दोनों मतों में आत्मा सत् है , आत्मा का ज्ञान साधन है और यह ज्ञान श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उत्पन्न होता है । न्यायमत में सत्य प्रपञ्च से सत्य आत्मा का भेद - ज्ञान आत्मा में रहता है । अद्वैतमत में मिथ्या प्रपञ्च से सत्य आत्मा का अभेद - ज्ञान रहता है , भेदज्ञान नहीं ।

(ख) द्वैतमते प्रपञ्चसत्यत्व सुनिर्णेयम्, अद्वैतमते प्रपञ्चमिथ्यात्वं दुर्निर्णेयम् । तन्निर्णये तु मिथ्यात्वशून्यत्वात् सत्यत्वाच्चोक्तभेदधीरिति न फलतो विशेष: ।

अर्थात् न्यायमत में प्रपञ्च के सत्यत्व का निश्चय किया जाता है और अद्वैतमत में उसके मिथ्यात्व का । इस ि. ि में भेद का ज्ञान रहता है क्योंकि उसका हेतु सत्यत्व और मिथ्यात्व - शून्यत्व विद्यमान है । इस प्रकार परिणामत: प्रपञ्च का सत्यत्व निश्चित करने में और प्रपञ्च का मिथ्यात्व निर्णीत करने में है ज्ञान- दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है ।

{ग} द्वैतमते जीवेश्वरयो: भेद: सत्य: , अद्वैतमते तु कल्पितो मिथ्या । आत्मनि ईश्वराभेदज्ञानं निरतिशयानुरागरूप भक्तिद्वारा मुक्ति कारणमिति मतद्वयेऽपि तुल्यम् । तन्तु एकस्य भ्रम: , अपरस्य प्रमेत्यन्यदेतत् ।

अर्थात् न्यायमत में जीव और ईश्वर का भेद सत्य है, अद्वैतमत में यह भेद कल्पित ,मिथ्या है ;किन्तु दोनों मतों में समानरूप से माना जाता है कि आत्मा में ईश्वर के अभेद का ज्ञान होता है और तत्पश्चात् ईश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम- स्वरूपा भक्ति होती है । भक्ति- सहित यह ज्ञान मोक्ष का कारण है, इसको भी दोनों मतों में माना जाता है। किन्तु न्यायमत में ईश्वर से अभेद का ज्ञान प्रमा है और अद्वैतमत में यह ज्ञान भ्रम है, जिसे आहार्यज्ञान कहा जाता है। यहां उल्लेखनीय है कि कुछ अद्वैतवेदान्ती भक्ति भावितद्वैत को अद्वैत से भी सुन्दर मानते है- भक्ति-भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ।

(घ) मतद्वयेऽपि एकविंशति⊗ दु:खध्वंसविशिष्टशुद्ध साक्षात्कारो मोक्ष: । तच्च सुखमेकमते नित्यमात्मनो भिन्नधर्म:, तत्साक्षात्कारश्च तत्सदृशो जन्योऽप्यविनाशी अविच्छिन्नधारावाही वा सविकल्पक:, अन्यमते तु सुखमात्मस्वरूपं नित्य तत्साक्षात्कारोऽप्यात्मस्वरूपो नित्यो निर्विकल्पक इति विशेषोऽस्तु। तथापि मतद्वये दु:खदर्शनं देहेन्द्रियादि प्रपञ्चस्य नष्टस्य विद्यमानस्य वेश्वराकाशादिप्रपञ्चस्य भेदाभेदयोरुभयोरपि ज्ञानं नास्तीति समानम् ।

अर्थात् न्यायमत और अद्वैतमत दोनों के अनुसार मोक्ष आत्मा का शुद्ध साक्षात्कार है जो इक्कीस दु:खों के ध्वंस से विशेषित रहता है । न्यायमत के अनुसार सुख नित्य है और आत्मा का धर्म है । इसका साक्षात्कार जनित होने पर भी अविनाशी अथवा अविच्छिन्न धारावाही और सविकल्पक है । परन्तु अद्वैतमत में सुख आत्मा का स्वरूप है, वह आत्मा का धर्म नहीं है । फिर भी वह नित्य है । उसका साक्षात्कार भी नित्य आत्मस्वरूप और निर्विकल्पक है । इतना अन्तर होते हुए भी दोनों मतों में मोक्षादशा में इतनी समानता है

⊗ 2। दु:ख निम्नलिखित है – तच्च दु:खमेकविंशति भेदभिन्नम् । तथाहि शरीरम् षडिन्द्रियाणि षड्विषया: षड्विधानि प्रत्यक्षाणि सुखं दु:खं चेति । तत्र शरीरं दु:खायतनत्वाद्दु:खम् । इन्द्रियाणि विषया: प्रत्यक्षाणि च तत्साधनत्वात् । सुखं च दु:खानुषङ्गात् । दु:खं तु स्वरूपत एवेति । न्यायकोश, पृ0 357 में उद्धृत ।

कि देह, इन्द्रिय आदि प्रपञ्च के नाश से अथवा ईश्वर , आकाश आदि प्रपञ्च के विद्यमान रहने से आत्मा के भेदाभेद का ज्ञान नहीं रहता ।

इतना साम्य और वैषम्य दिखलाकर विट्ठलेश उपाध्याय प्रश्न करते हैं कि न्यायमत की तुलना में अद्वैतमत को क्यों आदर दिया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं कि न्यायमत मन्द अधिकारी के लिये है और अद्वैतमत उत्तम अधिकारी के लिये । मुक्ति का साधन जीव और ब्रह्म का अभेद-ज्ञान है । ईश्वर के प्रति भक्ति मुक्ति का साक्षात्कार नहीं है किन्तु श्रवण,मनन और निदिध्यासन का सहाकारी कारण है । मोक्ष पदार्थ भी अद्वैतमत में समीचीन नहीं है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त सुख को स्वीकार करने में तथा उस सुख को साक्षात्कार मानने में कल्पना- गौरव है । सुख या आनन्द को आत्मा का स्वरूप स्वीकार करना युक्तियुक्त है । आत्मज्ञान, निर्विकल्पक, नित्य और सत्य है, यह मानना ही उचित है । इस प्रकार विट्ठलेश उपाध्याय ने अद्वैतमत को न्याय से श्रेष्ठ दिखलाया है [15] । परन्तु उदयन ने अद्वैतमत की अपेक्षा न्यायमत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है । वे ईश्वर – विषयक न्यायचर्चा को मननरूपी उपासना कहते हैं जो श्रवण के अनन्तर की जाती है । यह मनन अनुमिति रूप न्याय है तथा दो प्रकार का है । पहला, वह न्याय है जो संदिग्ध विषयों के बारे में किया जाता है अर्थात् यह न्याय वहां प्रयुक्त होता है जहां पक्षता-संशय घटित होता है । फिर दूसरा, वह न्याय है जो असंदिग्ध विषय के बारे में होता है अर्थात्

जहां पक्षाता- सिषाधयिषा घटित होती है । यह दूसरे प्रकार का न्याय ही उपासनात्मक है और प्रथम प्रकार का न्याय वास्तव में श्रवण के अन्दर है । जिस परमात्मा को हम सिद्ध करने की इच्छा रखते हैं{जो सिषाधयिषा-घटित पक्षाता है} उसका निरन्तर ध्यान या भक्तिपूर्वक स्मरण करना आत्म साक्षात्कार प्रदान करता है । यह उत्तम योग है [16] । वास्तव में इस न्यायमार्ग का प्रभाव अद्वैत वेदान्त पर भी पड़ा है और इस कारण अद्वैत वेदान्त में प्रसंख्यानमार्ग का सिद्धान्त प्रचलित है, जिसको मण्डनमिश्र - जैसे अद्वैत वेदान्ती मानते है । परन्तु शांकराचार्य और उनके अनुयायियों ने प्रसंख्यानमार्ग का खण्डन किया है । उनका कहना है कि जब अभ्यासजन्य चरमवृत्ति से आत्मज्ञान हो सकता है तो प्रथमवृत्ति से आत्मज्ञान क्यों नहीं हो सकता ? चिद्- रूप से आत्मज्ञान प्रथमवृत्ति में वैसे ही वृत्ति - व्याप्य है जैसे वह चरमवृत्ति में वृत्ति- व्याप्य है । इस प्रकार आचार्य शंकर और उनके अनुयायी मात्र श्रवण से आत्मज्ञान होता है - ऐसा मानते हैं । इसके विपरीत, प्रसंख्यानमार्ग के प्रवक्ता तथा नैयायिक कहते हैं कि श्रवण से केवल परोक्षप्रमा उत्पन्न होती है और इस परोक्ष- प्रमा को अपरोक्षप्रमा में बदलने के लिये न्यायचर्चा और ध्याननिष्ठा की आवश्यकता है । यद्यपि इन दोनो की आवश्यकता शांकर वेदान्त में भी है तथापि वहां ये दोनों श्रवण के पूर्व हैं । न्यायदर्शन इन दोनों को श्रवण के अनन्तर मानता है । इस कारण न्यायानुसारी आत्मज्ञान सविकल्पक हो जाता है और अद्वैत मतानुसारी आत्मज्ञान निर्विकल्पक रहता है । फिर, उदयन स्वप्रकाश-ज्ञान में भी अनात्मा का स्फुरण

मानते हैं और वेदान्ती इसका खण्डन करते हैं । इस प्रकार उदयन ने प्रतिपादित किया है कि न्यायमतानुसारी आत्म-साक्षात्कार द्वैताद्वैत-[illegible] है और अद्वैतमत से श्रेष्ठ है तथा द्वैतमत के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से श्रेष्ठ है ।

आधुनिक युग में नैयायिक पं० केदारनाथ ओझा ने उन [illegible] का खण्डन किया है जो मानते है कि न्यायदर्शन कोई स्वतन्त्र और परिपूर्ण दर्शन नहीं है तथा अद्वैतवेदान्त का ही एक अंग है । ओझा जी ने न्यायदर्शन को एक स्वतन्त्र और परिपूर्ण दर्शन के रूप में स्थापित किया है । उन्होंने उदयनाचार्य के <u>सर्वदर्शन समन्वय</u> में एक सातवीं भूमिका जोड़ी है जो मोक्ष की अवस्था है । इस अवस्था में [illegible] को [illegible] ज्ञान होता है, यह उन्होंने प्रतिपादित किया है । पुनश्च उन्होंने माना है कि न्याय भी आत्मा को स्वप्रकाश [illegible] है ,किन्तु वह स्वप्रकाश की परिभाषा अद्वैत से भिन्न करता है । न्याय का स्वप्रकाशत्व ज्ञान का विषय है जबकि अद्वैत का स्वप्रकाशत्व ज्ञान का अविषय है। अन्त में आधुनिक युग में ओझा जी ने उदयनाचार्य की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया है और न्यायमत की ज्ञानमीमांसा को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया है [17] । कुछ भी हो,न्यायमत अद्वैतमत का प्रबलतम प्रतिद्वन्द्वी है ।

न्यायदर्शन अनुमान को प्रमुखता देता है और अनुमान को स्वतन्त्र तथा वैध प्रमाण मानता है । जो लोग अनुमान का खण्डन करते है या अनुमान पर शंका करते हैं उनके प्रति उदयन कहते हैं :-

शंकाचेदनुमास्त्येव न चेच्छंका ततस्तराम्

व्याधातावधिराशंका तर्क: शंकावधिर्मत:[18] ।।

अर्थात् यदि अनुमान की प्रामाणिकता पर शंका की जाती है, तो अनुमान अवश्य है और अनुमान को तब प्रमाण अवश्य ही मानना पड़ेगा । और यदि शंका नहीं होती है तब तो अनुमान प्रमाण सुतरां सिद्ध ही है । शंकाओं की परम्परा तभी तक चल सकती है जब तक अन्तिम शंका व्याघात-पूर्ण न हो जाय । फिर तर्क के द्वारा ही सभी शंकाओं का निराकरण संभव है । अत: अनुमान की प्रामाणिकता सर्वथा सिद्ध है ।

उदयन की इस कारिका के महत्व को श्रीहर्ष ने बढ़ा दिया है । इसमें थोड़ा परिवर्तन करके उन्होंने निम्नलिखित कारिका बनायी है जिसमें अनुमान की प्रामाणिकता का खण्डन किया गया है -

व्याघातो यदि शंकास्ति न चेच्छंका ततस्तराम्

व्याघातावधिराशंका तर्क: शंकावधि: कुत: [19] ।।

अर्थात् यदि व्याघात होता है तो शंका अवश्य रहेगी, क्योंकि किसी व्याघात का उठना शंका के बिना नहीं हो सकता है । पुनश्च यदि व्याघात नहीं है तो शंका सुतरां रहेगी ही, क्योंकि तब शंका का कोई प्रतिबन्धक नहीं होगा । ऐसी परिस्थिति में शंका की अवधि व्याघात-पर्यन्त ही है, यह कैसे कहा जा सकता है ? अत: तर्क को शंका का प्रतिबन्धक कैसे कहा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि यदि व्याघात रहेगा तो शंका अवश्य होगी और व्याघात शंका का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता । इसलिये जब तर्क के द्वारा व्याप्ति

-निश्चय होता है तो शंका बनी रहती है । तर्क शंका का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है ।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में आगमनिक अनुमान के बारे में ऐसी ही शंका डेविड ह्यूम ने उठायी है । उसकी समस्या को आगमन की समस्या कहा जाता है जिसे भारतीय तर्कशास्त्र में व्याप्ति-निश्चय की समस्या कहते हैं । श्रीहर्ष और डेविड ह्यूम दोनों के अनुसार व्याप्ति- निश्चय कभी शंका-रहित नहीं हो सकता । किन्तु गंगेश उपाध्याय तत्त्वचिन्तामणि के तर्क प्रकरण में श्री हर्ष के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं -

" अतएव व्याघातो यदि शंकास्ति --------- इति खण्डनकार मतमपास्तम् , न हि व्याघात: शंकाश्रित: , किन्तु स्वक्रियैव शंकाप्रतिबन्धिकेति। न वा विशेषदर्शनात् शंकानिवृत्तिरेवं स्यात् [20] ।

अर्थात् व्याघात शंकारहित नहीं है । जहाँ शंका करने की प्रवृत्ति व्याहत होती है वहां शंका की उत्पत्ति नहीं होती । शंका की यह अनुत्पत्ति किस कारण से होती है ? इसको उदयन ने नहीं कहा । उदयन ने व्याघात को शंका का प्रतिबन्धक नहीं कहा है। पुनश्च यदि व्याघात को शंका का प्रतिबन्धक मान भी लें, तो दुर्जनतोष - न्याय से कोई हानि नहीं होती, क्योंकि जैसे विशेष दर्शन शंका का प्रतिबन्धक होता है, उसी प्रकार व्याघात भी शंका का प्रतिबंधक होगा, अन्यथा विशेष दर्शन से भी शंका प्रतिबन्धित नहीं होगी ।

यह स्थाणु है या पुरुष ? ऐसा संशय होता है । इस स्थल पर यह पुरुष है अथवा स्थाणु, ऐसा विशेष दर्शन होने से संशय की निवृत्ति होती है । ऐसा

विशेष दर्शन संशय-विरोधी है । जैसे विशेष दर्शन से संशय की निवृत्ति होती है उसी प्रकार शंका के बाद व्याघात उपस्थित होने के बाद शंका मिट जाती है । अत: श्रीहर्ष का प्रतिवाद युक्तियुक्त नहीं है । उनकी युक्ति के अनुसार जिन दो वाक्यों में विरोध होगा, उन दोनों को सत्य मानने पर हीविरोध होगा । अत: उनके अनुसार संशय के बिना संशयाश्रित विशेष दर्शन से संशय की जो निवृत्ति होती है वह श्रीहर्ष के अनुसार अनुपपन्न हो जायेगी [21] । इस प्रकार गंगेश उपाध्याय ने श्री हर्ष के मत का खण्डन करके उदयन के मत का समर्थन किया है । निष्कर्ष यह है कि अनुमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है और उस पर शंका नहीं की जा सकती । उसकी प्रामाणिकता सन्देह से परे है ।

पाद - टिप्पणियाँ तथा सन्दर्भ

1- आत्मतत्वविवेक, नारायणी टीका और रघुनाथ शिरोमणि की टीका सहित , सं. ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज,वाराणसी 1940, पृ0 230 / और अद्वैतसिद्धि गौडब्रह्मानंदी सहित ,सं. अनन्त कृष्ण शास्त्री ,निर्णयसागर, बम्बई ।

2- ज्ञानश्री निबन्धावली , पृ0 386 ।

3- तदास्तां तावत् किमार्द्रकवणिजो बहित्र चिन्तयेति । तस्मादनुभवव्यवस्थितौ अनात्मापि परिस्फुरतीत्यवर्जनीयमेतत् । आत्मतत्वविवेक , पृ0 223 ।

4- प्रविश वा अनिर्वचनीयत्वनाटिकुञ्जम् ,तिष्ठ वा मतिकर्दममपहाय न्यायनयानुसारेण नीलादीनां पारमार्थिकत्वे । वहीं पृ0 229 ।

5- स्वयमसिद्धश्चेत् , कथं शून्यत्वमपि साधयेत् । स्वतः सिद्धश्चेत् आयातोऽसि मार्गेण । वहीं पृ0 221 ।

6- अद्वैतसिद्धि , सं0 अनन्तकृष्ण शास्त्री , पृ0 227 ।

7- वहीं पृ0 228

8- वही पृ0 230

9- देखिए, आत्मतत्वविवेक की टीका, पृ0 10 - 12 ।

10- It appears that Udayana must have had leaning towards Advaitin doctrines, since they are not contradicted दे. Encyclopaedia of Indian Philosophy, Ed. Karl Potter में वी. वरदाचारी की टिप्पणी पृ० 606.

11- In spite of his leanings towards Advaita Vedānta the author does not openly state that the Advaitic concept of the unreality or illusory nature of the world is tenable. He simply says that the existence of the real world was ignored by the Vedantins. This is an ingenious way trying to create a rapproachement between the Vedānta and Nyāya System. वहीं पृ० 606 ।

12- श्रुतेः श्रुत्वात्मानं तदनु समनुक्रान्तवपुषो विनिश्चत्य न्यायादथ विहितहेय व्यतिकरम् । उपासीत् श्रद्धाशामदमविरामैकविभवो भवोच्छित्त्यै चिन्तप्रणिधिविहितैर्योगविधिभिः ।। आत्मतत्वविवेक ,पृ० 447 ।

13- इस सम्पूर्ण विवाद के लिये देखिए - विद्यावैजयन्तीनिबन्धमाला, प्रथमभाग, केदारनाथ ओझा , मुमुक्षुभवन , काशी 1978, पृ० 830- 917 ।

14- दे . आत्मतत्त्वविवेक , पृ० 448 - 451 ।

15- दे . अद्वैतसिद्धि, गौडब्रह्मानंदी व्याख्यान, सिद्धिव्याख्या और विट्ठलेशीय व्याख्या सहित , सं० अनन्तकृष्ण शास्त्री , निर्णयसागर ,बम्बई , 1917 , पृ० 172 ।

16- न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।

उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ।।

दे० न्यायकुसुमाञ्जलि 1/3 और उस पर परिमल टीका , उदयनाचार्य कृत न्यायकुसुमाञ्जलि आमोद,विवेक,बोधिनी,परिमल और सौरभ सहित, सं० महाप्रभुलाल गोस्वामी , दरभंगा , 1972 , पृ० 13- 20 ।

17- [illegible], प्रथमभाग, केदारनाथ ओझा ,वाराणसी 1978, पृ० 201- 275 ।

18- न्यायकुसुमाञ्जलि , हिन्दी अनुवाद , दुर्गाधर झा. पृ० 307 ।

19- खण्डनखण्डखाद्य 1/ 44

20- दे. न्यायकुसुमाञ्जलि , हिन्दी अनुवाद , अनुवादक दुर्गाधर झा , संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1973, प्राक्कथन , पृ० 27 में उद्धृत गंगेश उपाध्याय का वचन ।

21- वहीं पृ० 27- 28 ।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

शंकर मिश्र-कृत अद्वैतवेदान्त का सामान्य खण्डन

(1) न्यायलीलावतीकण्ठाभरण में अद्वैतमत का खण्डन

शंकर मिश्र ने सामान्यत: अद्वैतवेदान्त का खण्डन अपने सभी ग्रन्थों में किया है, और विशेष रूप में आनन्दवर्धन तथा भेदरत्न प्रकाश में किया है। अन्तिम दो ग्रन्थों में उन्होंने जो खण्डन किया है उसको अद्वैतवेदान्त का विशेष खण्डन कहा जा सकता है। इसके विपरीत अन्य ग्रन्थों में उन्होंने यत्र-तत्र अद्वैतवेदान्त का जो खण्डन किया है उसे उनके द्वारा किया गया अद्वैतवेदान्त का सामान्य खण्डन कहा जा सकता है।

यह सामान्य खण्डन शंकर मिश्र ने उदयन तथा वल्लभाचार्य के ग्रन्थों के व्याख्यान में किया है। उनके ऊपर इन दो दार्शनिकों का बहुत बड़ा प्रभाव है। उदयन के प्रभाव का वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है। अत: न्यायलीलावतीकार वल्लभ का प्रभाव इस अध्याय में सर्वप्रथम विवेच्य है।

न्यायलीलावती में अभाव-निरूपण के अनन्तर मुक्ति का निरूपण किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम विस्तार से अद्वैतवेदान्त के मुक्तिवाद का खण्डन है। यह पूरा खण्डन निम्न है -

ननु अद्वैततत्त्वसाक्षात्कारात् अविद्योपनीतप्रपंचप्रत्ययबाधे जागरादिप्रत्ययात् स्वप्रत्ययवदद्वैतानन्दसाक्षात्कारो मुक्तिरिति मन्यन्ते। नैवम्। मानाभावात्। श्रुतिरत्र मानमिति चेन्न। बाधितत्वात्। ब्रह्मसंवेदने ऽपि प्रपंचप्रत्ययस्य सत्वात्। ब्रह्मसंवेदनमिदानीं नास्तीति चेत्। न। नहि वेदानान्तर वेद्यं ब्रह्म। न च ब्रह्मरूपमिदानीं नास्तीति श्रुतिवाक्यजो विशिष्टब्रह्मानुभवो नास्तीति चेत्। न। तस्याप्यनुभवरूपस्य ब्रह्मरूपानतिरेकात्। ब्रह्मणोऽभिन्नत्वेन कल्पितोऽनुभवो नास्तीति चेत्। न। कल्पितस्यासत्वेन कल्पनात्वेन वा अबाधकत्वात्। अद्वैतश्रुतेश्च द्वैतावभासिप्रत्यक्षविरोधेन ग्रावप्लवनश्रुतिवदुपचरितार्थत्वात्। अथक्षमविद्यात्वेन न तस्या बाधकमिति चेत्। तुल्यं प्लवनेऽपि। किं चास्याऽविद्यात्वम्। अद्वैतानुभवविरोधित्वमिति चेत्। न। द्वैतानुभवविरोधित्वेन तस्यैव किं नाविद्यात्वम्। अयत्नसिद्धत्वमिति चेत्। न। यत्नसिद्धस्यापि शोकातुरतनयसाक्षात्कारस्याविद्यात्वात्। अयत्नसिद्धस्य च तनयसाक्षात्कारस्य विद्यात्वदर्शनात्। विचारासहत्वमविद्यात्वमिति चेत्। न। अनुभवेन विरोधिना विचारस्यैव कृशानोरनुष्णत्वानुमानवदाभासीकृतत्वात्[1]।

अर्थात् अद्वैतवादी मानते हैं कि ~~अद्वैतवादी मानते हैं~~ कि अद्वैततत्त्व के साक्षात्कार से अविद्याजन्य प्रपंच का प्रत्यय बाधित हो जाता है और तब जो जागरादि - प्रत्यय से स्वप्रकाशरूपी अद्वैतानन्द का साक्षात्कार होता है वह मुक्ति है। परन्तु यह मत अयुक्त है, क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण

नहीं है। यदि कहा जाय कि इसके लिए श्रुति प्रमाण है तो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि यह बाधित है। कारण ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी प्रपंच का प्रत्यय बना रहता है। ब्रह्म का ज्ञान इस समय नहीं है, यदि ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म ज्ञानान्तर से वेद्य नहीं है, अर्थात् वह अपने ज्ञान से ही वेद्य [स्वसंवेद्य] है। यह नहीं कहा जा सकता है कि इस समय संसार-दशा में ब्रह्म का अनुभव नहीं है, क्योंकि ब्रह्मानुभव सदावर्तमानस्वरूप है। पुनश्च, संसार-दशा में श्रुतिवाक्य से उत्पन्न ब्रह्म का विशिष्ट अनुभव नहीं है, यदि ऐसा कहा जाय तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो भी अनुभव है वह ब्रह्मरूप-अनुभव से अभिन्न है। यदि कहा जाय कि कल्पित अनुभव ब्रह्मानुभव से अभिन्न नहीं है तो ठीक नहीं है, क्योंकि जो कल्पित है वह असत् है। कारण, कल्पना की कोई सीमा या बाधा नहीं होती है। वास्तव में अद्वैतश्रुतियों का अर्थ गौण है, मुख्य नहीं। द्वैताभासी प्रत्यक्ष से विरुद्ध होने के कारण वे गौण अर्थ देती हैं, जैसे पानी में पत्थर के तैरने की बात कहने वाली श्रुति गौण अर्थ देती है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष तो अविद्या है और इसलिए वह श्रुति का बाधक नहीं हो सकता, तो यह युक्ति पत्थर के तैरने में भी लागू होगी। पुनश्च, अविद्या क्या है? यदि कहा जाय कि जो अद्वैतानुभव का विरोधी है वह अविद्या है तो उचित नहीं है, क्योंकि हम कह सकते हैं कि फिर जो द्वैतानुभव का विरोधी

है उसको अविद्या क्यों न कहा जाय ? क्योंकि द्वैतानुभव अयत्नसिद्ध है और अद्वैतानुभव श्रुतिजन्य होने के कारण यत्नसिद्ध है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म-ज्ञान ही अयत्नसिद्ध है तो ठीक नहीं है। स्वप्न में जो मनुष्य अपने पुत्र के बारे में प्रयत्नपूर्वक शोकातुर होता है उसका पुत्रशोक अविद्या है और जब वह पुत्र के अभाव का साक्षात्कार करता है तो यह अयत्नसिद्ध है और विद्या है। इस प्रकार देखा जाता है कि यत्नसिद्ध अविद्या होता है और अयत्नसिद्ध विद्या। यदि कहा जाय कि इस प्रकार की अविद्या समीचीन नहीं है, तो ठीक नहीं है। जैसे अग्नि को अनुष्ण सिद्ध करना अयुक्त है वैसे विचार को अनुभव-विरोधी कहना अनुपयुक्त है।

लीलावतीकार के उक्त खंडन को शंकर मिश्र अपनी युक्तियों से भी सुदृढ़ करते हैं। अद्वैतवेदान्तियों को वे एकदण्डी कहते हैं और उनके विरोध में रामानुज वेदान्तियों को त्रिदण्डी कहते हैं। शंकर मिश्र की युक्तियों में निम्नलिखित उल्लेख्य हैं -

(क) यदि प्रपंचबाध श्रवण के अनन्तर मननजन्य ब्रह्मानुभव से होता है तो अद्वैतवेदान्त में द्वैतापत्ति हो जायगी, क्योंकि प्रपंचबाध श्रुतिवाक्यज ब्रह्मज्ञान से भिन्न है।

(ख) अद्वैतवादी कहते हैं कि द्वैतानुभव अयत्नसिद्ध है और अविद्या है। विपरीततः, ब्रह्मानुभव उपनिषद् - परिशीलन से सिद्ध होने के कारण यत्नसिद्ध और विद्या है। इस प्रकार शंकर मिश्र कहते हैं

कि यत्नसिद्ध और अयत्नसिद्ध का निर्णय करने के लिए कोई नियम नहीं है। यत्नायत्न सिद्धत्वं विद्यात्वाविद्यात्वे प्रति न तन्त्रम् [2]।

(ग) घट और पट प्रत्यक्ष - अनुभव में एक दूसरे से भिन्न हैं। श्रुति यहाँ उन दोनों का अभेद नहीं सिद्ध कर सकती है [3]।

पुनश्च, वादिविनोद में शंकर मिश्र वल्लभाचार्य के दो मतों का उल्लेख करते हैं - पहला, लीलावतीकार वल्लभाचार्य सर्वमुक्ति को नहीं मानते। दूसरा, प्रभाकर मीमांसक का मुक्तिवाद वल्लाभाचार्य को स्वीकार है। इन दोनों के अनुसार मुक्ति दुःखप्राग भाव है और यह प्रागभाव दुःख का असमानाधिकरण है। स्पष्ट है कि यह मत अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध है। अद्वैतवेदान्तियों ने इसकी आलोचना करते हुए कहा कि वैशेषिक - दर्शन की मुक्ति से अच्छा तो वृन्दावन में शृगाल का जीवन है जो कम से कम भक्ति के वातावरण में तो जीता है।

> नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते ।
> वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
> न पुनर्वैशेषिकोक्तमोक्षान्तु सुखलेशादिवर्जितात्।
> यो वेदविहित यज्ञैरीश्वरस्य प्रसादतः [4] ।।

इसी आलोचना को श्रीहर्ष ने नैषधीयचरितम् में यूँ व्यक्त किया है -

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे महामुनिः ।
गोतमं तमवेतैव यथा वित्था तथैव सः [5] ।।

अर्थात् न्यायवैशेषिक मोक्ष की अवस्था में ज्ञान का जो अभाव मानते हैं उस पर कटाक्ष करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि यह मोक्ष दशा जड़ दशा होने के कारण पत्थर-जैसी है और मोक्ष को ऐसा बताने वाले निश्चय ही गोतम अर्थात् मूर्खतम हैं।

न्यायवैशेषिक के विरोध में अद्वैतवेदान्ती मोक्ष को ज्ञानस्वरूप मानते हैं। इस पर शंकर मिश्र इसके विरोध में वैशेषिकसूत्रोपस्कार में पांच तर्क देते हैं जो इस प्रकार हैं :-

(क) आत्मा ज्ञान है, सुख है, ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहा जाय कि "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", यह श्रुतिवाक्य यहां प्रमाण है तो ठीक नहीं है, क्योंकि यह श्रुति ब्रह्म को ज्ञानवान् और आनन्दवान् सिद्ध करती है। मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ, ऐसा अनुभव मुझे होता है। मुझे यह अनुभव नहीं होता कि मैं ज्ञान हूँ, मैं सुख हूँ। अतः आत्मा का मात्र ज्ञान और आनन्द होना असिद्ध है। आत्मा ज्ञानवान् और आनन्दवान् ही हो सकती है।

(ख) यदि ब्रह्मभाव मोक्ष है और आत्मा एक है, तो मुक्त जीवन और

संसारी जीव में कोई अन्तर नहीं होगा। परन्तु यह अन्तर है और अनुभवसिद्ध है। अतः मोक्ष आत्मा का ब्रह्मभाव नहीं है।

(ग) वेदान्ती मोक्ष को अविद्या-निवृत्ति भी कहते हैं। किन्तु अविद्या-निवृत्ति कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

(घ) ब्रह्म् नित्य-प्राप्त है। इस कारण वह साध्य भी नहीं हो सकता और इस कारण उसका साक्षात्कार या उससे आत्मा का तादात्म्य साध्य नहीं हो सकता।

(च) इसी प्रकार आनन्द और आनन्द से तादात्म्य भी नित्य प्राप्त होने के कारण साध्य नहीं हो सकते और उनको पाने के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती [6]।

(2) आमोद में अद्वैतमत का खण्डन

शंकर मिश्र ने न्यायकुसुमांजलि की निम्नलिखित कारिका के व्याख्यान में सांख्य, वेदान्त और बौद्धमत के खण्डन का विमर्श किया है।

> एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यंच समस्य न।
>
> शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः [7]।

यहाँ वेदान्तमत का उल्लेख करते हुए शंकर मिश्र कहते हैं कि वेदान्ती

प्रपंच का कारण एक और अद्वितीय ब्रह्म् को मानते हैं और वे कहते हैं कि सृष्टि करने में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है -

तेषां ब्रह्मैवैकम् प्रपंचस्य कारणं किमीश्वरेण [8]।

इस युक्ति से स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्त के ब्रह्मवाद को शंकर मिश्र निरीश्वरवाद मानते हैं और न्यायकुसुमांजलि में उदयन ने निरीश्वर-वाद के जिन पांच प्रकारों का खण्डन किया है उनमें वे अद्वैतवेदान्त को भी सम्मिलित करते हैं [9]।

संक्षेप में ब्रह्मवाद के खण्डन में शंकर मिश्र ने निम्नलिखित युक्तियां दी हैं :-

(क) यदि प्रपंच का कारण एक है और वह कूटस्थ नित्य है तो उसके अक्रम अर्थात् क्रमरहित होने के कारण नाना प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति न हो सकेगी। अर्थात् एक और अद्वितीय ब्रह्म् में क्रमकारित्व नहीं है। प्रपंच में क्रमकारित्व सिद्ध है। अतएव प्रपंच का कारण एक और अद्वितीय सत् नहीं हो सकता।

(ख) यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म् में क्रमकारित्व को माना जा सकता है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है तो शंकर मिश्र का उत्तर है कि शक्तिभेद कार्यवैचित्र्य से नियत होता है, न कि कार्यवैचित्र्य शक्ति से नियत होती है।

शक्तिभेदोऽपि कार्यवैचित्र्य-नियामकेन उपपद्यते [10]।

पुनश्च वरदराज ने न्यायकुसुमांजलि बोधिनी में शंकरमिश्र के आमोद का एक स्थान पर खण्डन किया है जिसका अद्वैतवेदान्त से गहरा सम्बन्ध है। शंकर मिश्र ने लिखा है कि "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" यहाँ श्रुति का अर्थ मात्र श्रवण करना है। अन्यथा शूद्रादि के अधिकार का प्रसंग उठ जायेगा [11], जो अदृष्ट कल्पना या अश्रुत कल्पना है। वरदराज का उत्तर है कि शंकर मिश्र ने श्रुति का जो अर्थ मात्र शब्द-प्रमाण किया है वह अदृष्ट-कल्पना से बचने के लिए किया है अर्थात् शूद्रों को अधिकार न मिले, इस शंका को दूर करने के लिए उन्होंने श्रुति का अर्थ शब्दप्रमाण मात्र किया है। वरदराज का कथन है कि यदि श्रुति पद का अर्थ मात्र शब्दप्रमाण किया जाए तो मनन और निदिध्यासन के द्वारा जो ज्ञान होता है वह श्रुति से नहीं होगा और उसके लिए लक्षणा को मानना पड़ेगा। और ऐसा मानने में अदृष्ट-कल्पना अनिवार्य हो जायेगी। इसलिए श्रुतिवाक्येभ्यः का अर्थ श्रुतिसमानार्थवाक्येभ्यः है अर्थात् श्रुति का अर्थ श्रुतिसमान अर्थ है - ऐसा करने पर लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं और स्मृति आदि को व्यर्थ मानने की आवश्यकता नहीं है [12]। स्मृति, पुराण, तर्कशास्त्र इत्यादि सभी श्रुति के अन्दर आ जाते हैं। वास्तव में, श्रुति का अर्थ शास्त्र है।

(3) कल्पलता में अद्वैतमत का खण्डन

उदयन् के आत्मतत्त्वविवेक पर शंकर मिश्र ने कल्पलता नामक व्याख्या लिखी है जिसे बौद्धाधिकार-व्याख्या भी कहा जाता है। आत्म-तत्त्वविवेक में सामान्यतः बौद्धों के नैरात्म्यवाद का खण्डनहै। इस-लिए उसे बौद्धाधिकार या बौद्धधिक्कार कहा जाता है। परन्तु कल्पलता में शंकर मिश्र ने कुछ स्थलों पर वेदान्ती-मत का खण्डन भी किया है। उदाहरण के लिए उनका निम्नलिखित कथन लिया जा सकता है -

> वेदान्तिनोऽप्यापाततो नैरात्म्यवादिन
> एवेति तन्मतमपि इष्यत एव [13] ।

अर्थात् आपाततः वेदान्तियों का मत भी नैरात्म्यवाद है, इसलिए उनके आत्मा का भी खण्डन किया गया है। आत्मतत्त्वविवेक के अन्यव्याख्याकारों के समान शंकर मिश्र भी यह मानते हैं कि श्रुति से प्राप्त आत्मज्ञान-सम्बन्धी शंका का निवारण करने के लिए न्याय-प्रयोग करना चाहिए - तथा च श्रुतिभ्यः समधिगतेऽप्यात्मनि सङ्कासुक्ता-निवृत्तये न्यायः प्रवर्तनीयः [14] । उनका मत नैरात्म्यवाद के विरोध में आत्मवाद का है जो न्यायदर्शन और वेदान्त दर्शन के अनुसार है।

नैरात्म्यदृष्टिं मोक्षस्य हेतुं केचन मन्वते ।

आत्मतत्त्वधियं त्वन्ये न्यायवेदानुसारिणः ।।

अर्थात् न्यायदर्शन और वेद के अनुयायी आत्मतत्त्वज्ञान को मोक्ष का हेतु मानते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यह आत्मज्ञान किस प्रकार का है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर मिश्र ने दो तथ्यों का उद्घाटन किया है। प्रथम जो आत्मज्ञान सहज, नैसर्गिक या अयत्नसिद्ध है, वह तत्वज्ञान होता हुआ भी मिथ्याज्ञानका निर्वतक नहीं है। अतः वह वस्तुतः अतत्त्वज्ञान है। उदाहरण के लिए मैं गोरा हूँ, मैं प्रसन्न हूँ, यहां जो आत्मज्ञान हो रहा है वह अयत्नसिद्ध है और मिथ्याज्ञान का निवर्तक नहीं है। इसलिए यह वास्तव में अतत्त्वज्ञान है [15]।

द्वितीय, उपर्युक्त कथन के विश्लेषण से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि आत्मा पारमार्थिक है, व्यावहारिक नहीं है। और उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, क्योंकि वह पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ होने के कारण ही आत्मज्ञान यत्नसिद्ध है। जैसा कि उदयन ने न्यायकुसुमांजलि में एक स्मृति का उद्धरण देते हुए कहा है - आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यास से आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए आत्मा ईश्वर के साथ सायुज्य प्राप्त करती है [16]।

पुनश्च वादिविनोद में शंकर मिश्र ने लिखा है कि ब्रह्माद्वैतं यथा वेदान्तिनां तथा ज्ञानाद्वैतं सौगतानाम् [17]। अर्थात् जैसे वेदान्तियों का ब्रह्माद्वैतवाद है वैसे ही बौद्धों का ज्ञानाद्वैतवाद है। इस आधार पर ज्ञानाद्वैतवाद की जो आलोचना है वह ब्रह्माद्वैतवाद पर भी लागू होती है। ज्ञानाद्वैतवाद का खंडन स्वयं शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में बौद्धविज्ञानवाद के प्रसंग में किया है। वह खण्डन ब्रह्माद्वैतवाद पर भी लागू होता है। शंकर मिश्र भी ज्ञेय विषय को ज्ञान से भिन्न मानते हैं ; इसलिए वे भी ज्ञानाद्वैतवाद का खण्डन करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शंकर मिश्र एकात्मवाद का खण्डन करते हैं तथा नाना आत्मवाद को मानते हैं। इसका निरूपण आगे उपस्कार के आधार पर किया जायगा।

(4) उपस्कार में वेदान्तमत का खण्डन

वैशेषिकसूत्रोपस्कार में आत्मपरीक्षा - प्रकरण के अनन्तर आत्मा के नानात्व को सिद्ध किया गया है। वैशेषिक सूत्र में दो सूत्र हैं जो आत्मा के नानात्व को सिद्ध करते हैं। पहला सूत्र है, "व्यवस्थातो नाना" अर्थात् कोई धनिक है, कोई दरिद्र है, इत्यादि व्यवस्था बिना आत्मभेद को माने संभव नहीं है। दूसरा, "शास्त्रसामर्थ्याच्च" अर्थात्

शास्त्र के बल से भी आत्माओं का नानात्व सिद्ध है। शंकर मिश्र यहाँ दो श्रुतिवाक्यों का उदाहरण देते हैं :- "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये" [दो प्रकार के ब्रह्म् को जानना चाहिये], "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते" [अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी एक साथ बैठे हैं]। यहाँ एक पक्षी जीवात्मा है और दूसरा पक्षी परमात्मा है [18]।

उपस्कार में शंकर मिश्र ने इस मत का भी खण्डन किया है कि मात्र श्रवण से आत्मसाक्षात्कार होता है। उनका कथन है कि जो लोग मात्र श्रवण से आत्मसाक्षात्कार मानते हैं और मननरूपी न्यायवैशेषिक शास्त्र को आत्मसाक्षात्कार में उपयोगी नहीं मानते हैं, उनका मत ठीक नहीं है, क्योंकि मनन के बिना शंकालु [सन्दिग्धक] की अश्रद्धा का प्रक्षालन नहीं होता है और उसके बिना निदिध्यासन नहीं होता है तथा निदिध्यासन के बिना मिथ्याज्ञान और वासनाओं का उन्मूलन नहीं होता है। केवल शाब्दिक ज्ञान या अनुमान मिथ्या ज्ञान का निवर्तक नहीं है, जैसा कि दिग्भ्रम में देखा जाता है [19]।

अन्त में, श्री शंकर मिश्र ने स्वरूप - सम्बन्ध की भी आलोचना की है जिसका प्रस्तावअद्वैतवेदान्ती समवाय के स्थान पर करते हैं। शंकर मिश्र के अनुसार स्वरूप सम्बन्ध समवाय में बाधक नहीं है, अपितु वह अनवस्थादोष से समवाय सम्बन्ध की रक्षा करता है। यदि समवाय को हटाकर मात्र स्वरूप - सम्बन्ध माना जायेगा तो अनन्त स्वरूप-सम्बन्ध

मानने पड़ेंगे। अत: उनको न मानकर लाघव-न्याय से उनके स्थान पर समवाय सम्बन्ध को मानना उचित है [20]। स्वरूप - सम्बन्ध और समवाय सम्बन्ध इस प्रकार एक दूसरे के उपकारक हैं।

(5) वादिविनोद में अद्वैतमत का खण्डन

वादिविनोद के तृतीय उल्लास में शंकर मिश्र ने अन्य मतों के साथ अद्वैत वेदान्त का भी निरूपण किया है, किन्तु इस मत का निरूपण न्याय-वैशेषिक के सन्दर्भ में होने के कारण यह प्रतीत होता है कि इस निरूपण का प्रयोजन वैशेषिक से अद्वैतमत का भेद दिखाना और तत्पश्चात् वाद-विवाद में उसका खण्डन करना है। कुछ भी हो, वादिविनोद में अद्वैत-मत के विषय में निम्नलिखित विमर्श किये गये हैं जो अत्यन्त कौतूहलमय है -

(क) ब्रह्ममात्रं पदार्थो, व्यवहारो धर्मिधर्म-भावेन पंचपदार्था: इति वेदान्तिन: अर्थात् अद्वैतवेदान्ती परमार्थत: एक मात्र ब्रह्म को पदार्थ मानते हैं, परन्तु व्यवहारत: वे पांच पदार्थ मानते हैं जिनके नाम - ब्रह्म, द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य हैं। इन पदार्थों में वे धर्मिधर्म-भाव का सम्बन्ध मानते हैं [21]।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने वेदान्तियों के पांच पदार्थों में ब्रह्म, धर्म, धर्मी, आधार और प्रदेश को गिनाया है [22]। किन्तु उनका मत समीचीन नहीं है, क्योंकि स्वयं शंकर मिश्र ने वेदान्तियों के अनुसार द्रव्य और गुण का परिगणन किया है। फिर उन्होंने भाट्टमत के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य, इन चार पदार्थों को गिनाया है और व्यवहारे भाट्टनय: के अनुसार अद्वैतवेदान्ती व्यवहार में इन चार पदार्थों को मानते हैं। अत: ब्रह्म, द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य - ये पांच पदार्थ वेदान्तियों को भी स्वीकार्य हैं।

(ख) पृथिव्यप् तेजोवायुवात्ममनो अंधकारशब्दा: अष्टौ द्रव्याणि, नत्वाकाशकालदिशा द्रव्यत्वमिति वेदान्तिन: [23]। अर्थात् पृथ्वी अप्, तेज, वायु, आत्मा, मन, अंधकार (तम:) और शब्द - इन आठ द्रव्यों को अद्वैत वेदान्ती स्वीकार करते हैं और वे आकाश काल तथा दिक् को द्रव्य नहीं मानते हैं। तम को द्रव्य सिद्ध करने के लिए जिन युक्तियों को दिया जाता है वे निम्नलिखित श्लोक में संगृहीत हैं :-

नाभावो भाववैधर्म्यान्नारोपो बाधहानित: ।
द्रव्यादिषट्कवैधर्म्याज्ज्ञेयं मेयान्तरं तम: ।।

अर्थात् तम (अंधकार) को एक भिन्न प्रमेय समझना चाहिए, क्योंकि वह द्रव्यादि षट्प्रमेयों से भिन्न है। यद्यपि वह भाव से भिन्न है तथापि वह अभाव नहीं है। यद्यपि वह प्रकाश से बाधित होता है तथापि वह आरोपित नहीं है[24]।

शंकर मिश्र ने तम को द्रव्यान्तर सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है -

तम: खलु चलं नीलं परापरविभागवत् ।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यात् नवभ्यो भेत्तुमर्हति[25]।।

गुण क्रियावत् द्रव्यं, इस न्याय से जो गुणवान् और क्रियावान् होता है वह द्रव्य होता है। तम में नीलत्व तथा परापरविभाग के गुण हैं और उसमें चलन की क्रिया है, इसलिए वह द्रव्य है। इसी कारण वह प्रसिद्ध नौ द्रव्यों से भिन्न है। इसी प्रकार शब्द को भी द्रव्य माना जाता है क्योंकि उसमें नाद नामक असाधारण गुण होता है। शंकर मिश्र कहते हैं शब्दों द्रव्यं सर्वगतो नित्यश्च श्रोत्रग्राह्य: नादा स्तस्या साधारणो धर्म:[26]।

यह उल्लेखनीय है कि अद्वैतवेदान्ती भाट्टमीमांसक की ही भांति शब्द और तम को द्रव्य मानते हैं।

(ग) परत्वापरत्वपृथक्त्वधर्माधर्मविभाग शब्दान् अपास्य तादात्म्य-वृत्तिनादान् त्रिगुणानाक्षिप्य विंशतिगुणा इति वेदान्तिन:[27]।

अर्थात् अद्वैतवेदान्ती वैशेषिक के चौबीस गुणों में से परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, धर्म, अधर्म विभाग और शब्द इन सात गुणों को निकाल कर और तादात्म्य, वृत्ति तथा नाद, इन तीन गुणों को जोड़कर कुल 20 गुण मानते हैं।

(घ) कर्म और सामान्य, इन दो पदार्थों के बारे में अद्वैतवेदान्तियों के प्राय: वे ही मत है जो वैशेषिकों के हैं। यही कारण है कि शंकर मिश्र ने उनका अलग से विवेचन नहीं किया है।

(च) मुक्ति के स्थापना-प्रकार का वर्णन करते हुए शंकर मिश्र ने शंकराचार्य के मोक्षवाद का इस रूप में निरूपण किया है -

ब्रह्माद्वैतसाक्षात्कार इति शङ्कराचार्या: [28]।

मोक्ष एक और अद्वितीय ब्रह्म् का साक्षात्कार है। ब्रह्म् सच्चिदानन्द है। इस कारण मोक्ष का स्वरूप ब्रह्म्भाव होने के कारण सत्यात्मक, ज्ञानात्मक एवं सुखात्मक है। इस तथ्य का वर्णन शंकर मिश्र ने उपस्कार में अद्वैत वेदान्त के मुक्तिवाद का खण्डन करते हुए किया है। उसका विवेचन यहां पहले किया जा चुका है।

§छ§ शंकर मिश्र ने अद्वैतवेदान्त के शुद्धज्ञानमार्ग का भी खण्डन करके उसके स्थान पर §कर्म से क्रमशः§ कर्म समुच्चित ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं -

कर्मणामभोगैकनाश्यत्वे विवादाध्यासितानि कर्माणि भोगैकनाश्यानि अचीर्णप्रायश्चित्ताकीर्तितकर्मत्वात्, यदेवं, तदेवम्, यथा सम्प्रतिपन्नं कर्म। प्रायश्चित्तपदेन कर्मनाशापार-गमनस्याकृतप्रधानाङ्गापूर्वस्य चोपलक्षणम् इति न तथोव्यभिचारः। तदन्यत्वेन वा हेतुर्विशेषणीयः। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यादिस्मृतिस्तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्यते कैवल्येन श्रुतिश्चात्र मानम्। ज्ञानाग्निरित्यादि-कार्यव्यूहेन भोगद्वारा कर्मनाशोपलक्षणम्। भस्मसात्पदस्य उभयथा लाक्षणिकत्वात्[29]।।

अर्थात् कर्मों का नाश केवल भोग द्वारा होता है। जिन अध्यासित कर्मों के कारण वर्तमान जन्म प्राप्त है उनका नाश केवल भोग से होता है, क्योंकि प्रायश्चित न करने वालों को उनके कर्म का फल मिलता है। जो जैसा है, वह वैसा है §जो जैसा करता है उसको वैसा फल मिलता है§, जैसे वर्तमान् कर्म का फल। यहाँ प्रायश्चित पद से कर्मनाश द्वारा भवसागर पार करना और

संचित कर्म का अंगभूत अपूर्व उपलक्षित है। अतः भवसागर पार करने और अपूर्व में असाहचर्य नहीं है। अथवा उपर्युक्त अनुमान में हेतु का विशेषण तदन्यत्व होना चाहिए। बिना भोगा हुआ कर्म नष्ट नहीं होता है, यह स्मृति वाक्य यहां प्रमाण है। जीव तभी तक रहता है, जब तक उसका मोक्ष नहीं होता और जब तक उसको कैवल्य नहीं प्राप्त होता, यह श्रुति-वाक्य भी यहाँ प्रमाण है। ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्मसात् करती है (भगवतगीता का कथन) भोग द्वारा कर्म नाश होता है, यह मत गीता के उक्त वचन से भी उपलक्षित होता है, क्योंकि "भस्मसात्" पद का लक्ष्यार्थ दो है - (1) सब जला देना और (2) कुछ छोड़कर सब जलाना।

यहाँ शंकर मिश्र ने सहानुभूतिपूर्वक मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों का सह-समुच्चय किया है। कर्म ज्ञान के इस क्रम-समुच्चय को अनेक अद्वैतवेदान्ती भी स्वीकार करते हैं जो शंकर मिश्र जैसे नव्य नैयायिकों की आलोचना का प्रतिफल हो सकता है।

(ज) वादिविनोद में शंकर मिश्र ने एक स्थान पर श्रीहर्ष के मत का उल्लेख किया है ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् इति खण्डनकार शङ्कितलक्षणों चिन्तामणिकृत: स्वरस:[30]। अर्थात् ज्ञान अतीन्द्रिय है। इस

लक्षण पर श्रीहर्ष ने शंका की है जिसका निराकरण तत्त्वचिन्तामणि में गंगेश ने किया है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञान अतीन्द्रिय है और इन्द्रिय-ज्ञान उसका नियामक नहीं हो सकता।

शंकर मिश्र के उपर्युक्त खण्डन में यह देखा जा सकता है कि उन्होंने अद्वैतवेदान्त की पदार्थ-मीमांसा और ज्ञानमीमांसा को विशेष रूप से ध्यान में रखा है। वे ब्रह्मज्ञान या ईश्वरज्ञान को योगज प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखते हैं और सामान्यतः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं। अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य और चेष्टा - इन पांच प्रमाणों को वे उपर्युक्त चार प्रमाणों के अन्तर्गत ही रखते हैं। उनकी इस आलोचना के द्वारा अद्वैतवेदान्त की प्रमाणमीमांसा से उनकी असहमति सिद्ध होती है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त षट्प्रमाणवादी है। किन्तु अद्वैतवेदान्त के जिस तार्किक स्वरूप की आलोचना उन्होंने की है उसका सीधा सम्बन्ध श्रीहर्ष और चित्सुख के व्यध-प्रस्थान से है। यह उल्लेखनीय है कि शंकर मिश्र के ग्रन्थों में चित्सुख का नाम तक नहीं आता। चित्सुख ने न्यायलीलावतीकार और उदयन के कई मतों का खण्डन किया है। संभवतः चित्सुख की पुस्तक तत्त्वप्रदीपिका शंकर मिश्र को उपलब्ध नहीं थी, अन्यथा वे न्यायलीलावतीकार और उदयन के पक्ष में चित्सुख के खंडन का निराकरण करते। शंकर मिश्र न्यायलीलावतीकार और उदयन के मतों से इतने प्रभावित थे कि वे उनके आलोचक चित्सुख की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। अतएव यह निष्कर्ष पूर्णतया वैध है कि शंकर मिश्र को तत्त्वप्रदीपिका उपलब्ध नहीं थी।

पादटिप्पणी और सन्दर्भ -

1- न्यायलीलावती, शंकरमिश्रकृत न्यायलीलावती कंठाभरण एवं वर्धमानकृत न्यायलीलावती प्रकाश सहित, चौखम्भा, वाराणसी, 1934, पृ॰ 580-582॰

2- वही, पृ0 582॰

3- वही पृ0 582॰

4- सर्वसिद्धान्तसंग्रह, श्री शंकराचार्य, नैयायिक पक्ष, श्लोक 41-42॰

5- नैषधीयचरितम्, 17/75॰

6- वैशेषिक सूत्रोपस्कार, हिन्दी अनुवाद सहित, ढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्भा, वाराणसी, 1969, पृ0 25-26॰

7- न्यायकुसुमांजलि, प्रथम स्तवक 1/7॰

8- आमोद, संपादक महाप्रभुलाल गोस्वामी, दरभंगा, 1972, पृ0 71॰

9- एतन्निरासादेव च वेदान्त्यादिविप्रतिपत्तयोऽपि निरस्ता भवन्तीति भावः। वही॰ पृ0 2॰

10- वही पृ0 71॰

11- वही पृ0 14॰

12- अतएव च न प्रमाणमात्रपरत्वं श्रुतिपदस्य, प्रमाणमात्रस्य मुख्यविशेष्ये साक्षात्प्रकारतया तन्मात्रेण तद्बोधने लक्षणापत्तेः समनियतसिद्धीतरवैयर्थ्यात् । अतएव शाब्दबोधस्यैव तत् प्रयोजकत्वे नियमादृष्टकल्पनमपि। नियमादृष्टंवादृष्टविशेषो वा विशिष्टकार्यकारणभावो वेत्यन्यदेतदित्याहुः।

वस्तुतस्तु "श्रुतिवाक्येभ्यः इत्यस्य श्रुतिसमानार्थवाक्येभ्य इत्यर्थः, अन्यथा वाक्यपदवैयर्थ्यापत्तेस्तथा च स्मृत्यादिजन्यबोध-स्यापि तदर्थत्वमित्ति ध्येयम्। वही, बोधिनी, पृ0 18-19.

13- आत्मतत्त्वकल्पलता और प्रकाशिका, दीधिति और रहस्य सहित, बिब्लयोथिका इंडिका, 1919, पृ0 20.

14- वही पृ0 20.

15- ननु अहं गौर इत्यादिप्रकारकमात्म ज्ञानम् अयत्नसिद्धमेवेत्यत आह। नैसर्गिकीमिति। स्वाभाविकम् अयत्नसिद्धमिति यावत्। अहं सुखीति आदि प्रकारकात्मज्ञानस्य। वही पृ0 12.

16- आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च त्रिधाप्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।। न्यायकुसुमांजलि 1/3 का व्याख्यान में उद्धृत स्मृति का वचन।

17- वादिविनोद पृ0 54.

18- वैशेषिकसूत्रोपस्कार, पृ0 272-74.

19- वही पृ0 249.

20- वहीपृ0 443.

21- वादिविनोद पृ0 53.

22- History of Indian Philosophy, Vol. II Page 313.

23- वही पृ0 53.

24- न्यायलीलावती, निर्णयसागर, बम्बई 1915,पृ0 2.

25- वादिविनोद पृ0 55.

26- वही पृ0 55.

27- वही पृ0 53.

28- वही पृष्ठ 39.

29- वही पृष्ठ 41.

30- वही पृष्ठ 52.

च तु र्थ अ ध्या य

चतुर्थ अध्याय

श्रीहर्ष का खण्डन

[1] शंकर मिश्र के खण्डन की पद्धति

शंकर मिश्र ने अद्वैतवेदान्त के खण्डन में एक नई परम्परा चलायी है। इस परम्परा की दो धारायें हैं। इसकी पहली धारा श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य की निष्पक्ष समालोचना से निकली है। स्वयं शंकर मिश्र ने खण्डनखण्डखाद्य की आनन्दवर्धन नामक टीका में यत्र-तत्र खण्डनखण्डखाद्य के सिद्धान्तों का निराकरण किया है। उनके निराकरण को लेकर नैयायिकों में दो सम्प्रदाय हो गये हैं। एक सम्प्रदाय उस निराकरण का प्रतिवाद करता है और खण्डनखण्डखाद्य का समर्थन करता है। प्रगल्भ मिश्र और रघुनाथ शिरोमणि जैसे श्रेष्ठ नैयायिक इस सम्प्रदाय में आते हैं। दूसरा सम्प्रदाय शंकर मिश्र के निराकरण का और अधिक विस्तार से वर्णन करता है तथा खण्डनखण्डखाद्य का पूर्ण खण्डन करता है। इस सम्प्रदाय में अभिनव वाचस्पति मिश्र और गोकुल नाथ उपाध्याय आते हैं।

शंकर मिश्र ने अद्वैतवाद के खण्डन में जो दूसरी धारा चलाई उसका केन्द्र-बिन्दु अभेद का खण्डन और भेद का समर्थन है। शंकर मिश्र ने भेदरत्न या भेदरत्नप्रकाश नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने अद्वैतवेदान्त का खण्डन किया और भेद की वास्तविकता को सिद्ध किया। इस ग्रन्थ के प्रतिवाद में नृसिंहाश्रम स्वामी ने भेदधिक्कार और मधुसूदन सरस्वती ने

अद्वैतरत्नरक्षण नामक ग्रन्थ लिखे। इसके समर्थन में विश्वनाथ पंचानन ने भेदसिद्धि नामक ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार भेदरत्न को केन्द्र में रखकर इसके पक्ष और विपक्ष में पर्याप्त ग्रन्थ रचना हुई है जिसका विवरण पं0 सूर्यनारायण शुक्ल ने भेदसिद्धि की भूमिका में दिया है। भेद-अभेद का यह खण्डन - मण्डन कालान्तर में माध्ववेदान्त और शांकरवेदान्त के शास्त्रीय विवादों का मुख्य विषय बन गया। माध्व वेदान्तियों ने भेद को सिद्ध किया तथाअभेद का खण्डन किया। विपरीततः अद्वैतवेदान्तियों ने अभेद को सिद्ध किया और भेद का खण्डन किया । इन दोनों धाराओं से सिद्ध है कि शंकर मिश्र का प्रभाव परवर्ती अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन पर विशेष रूप से पड़ा है।

वास्तव में शंकर मिश्र उदयन और गंगेश उपाध्याय कीपरम्परा के नैयायिक हैं। उन्होंने गंगेश के तत्त्वचिन्तामणि पर अपनी मयूख नामक टीका में दावा किया है कि उन्होंने तत्त्वचिन्तामणि को अपने पिता भवनाथ मिश्र से समझने में सफलता प्राप्त की थी। फिर उन्होंने उदयन के आत्मतत्त्वविवेक और न्यायकुसुमांजलि पर प्रौढ़ टीकाएं लिखी हैं और उदयन की भांति सिद्ध किया है कि वास्तव में न्याय ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा मुमुक्षुओं को मोक्ष प्रदान कराने में सफल है तथा वेदान्त इसमें असफल है। यह भी उल्लेखनीय है कि उदयन के सिद्धान्तों के खण्डन के लिए ही श्रीहर्ष ने खण्डनखाण्डखाद्य लिखा था। अतः

खण्डनखण्डखाद्य के खण्डन के लिए शंकर मिश्र द्वारा उदयन का सहारा लेना सहज स्वाभाविक है। खण्डनखण्डखाद्य पर वेदान्तियों को गर्व है जिसकी अभिव्यक्ति को विद्यारण्य स्वामी ने पंचदशी के निम्नलिखित श्लोक में किया है -

> निरुक्ताविभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।
>
> हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ।।

अर्थात् जो तार्किक (नैयायिक), वैशेषिक और मीमांसक निरुक्त (निर्वचन या लक्षण) पर अभिमान करते हैं अथवा जो नैयायिकगण पदार्थों के लक्षण और व्याख्यान पर बल देते हैं उनको श्रीहर्ष इत्यादि दार्शनिकों ने खण्डनखण्डखाद्य में अच्छी तरह से शिक्षित कर दिया है अर्थात् उनके गर्व को चूर्ण कर दिया है। शंकर मिश्र ने वेदान्तियों की इस गर्वोक्ति को गहराई से लिया और उन्होंने इसके आधारभूत ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य का निराकरण किया। वादिविनोद में उन्होंने इस अभिमान को काटने के लिये पांच उपाए बताए हैं जो वहीं एक-एक उल्लास में वर्णित हैं। भेद प्रकाश में उन्होंने अभेदवाद का खण्डन किया जिससे अद्वैतवेदान्तियों को प्रबल प्रत्युत्तर मिल गया। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त की आलोचना में श्रीशंकर मिश्र नेप्रायः श्रीहर्ष का ही खण्डन किया जिन्होंने अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में न्यायदर्शन की आलोचना का सबल सूत्रपात किया था।

वादिविनोद में शंकर मिश्र ने अपनी आलोचना - पद्दति के वर्णन में जिन पांच उपायों का निरूपण किया है वे निम्नलिखित श्लोक में गिनाये गये हैं :-

कथात: प्रश्नत: प्रश्नज्ञानात् प्रश्नपराहते: ।
प्रश्नानुत्तरत: क्वापि पराहंकार शातनम् ।।

अर्थात् किसी वाद-विवाद में विरोधी के अहंकार को चूर्ण करने के पांच उपाय हैं। पहला उपाय कथा है जिसके अन्तर्गत वाद,. जल्प और वितंडा आते हैं। वाद - विवाद में किसी एक पक्ष को तर्कत: सिद्ध करना वाद है। विरोधी के मत का छल, जाति आदि उपेक्षणीय साधनों द्वारा खण्डन करना जल्प है। प्रत्येक मत का मात्र खण्डन करना और किसी मत को न मानना वितण्डा है। दूसरा उपाय प्रश्न-पूछना है। वादी प्रतिवादी से ऐसा प्रश्न करता है जिससे प्रतिवादी पराजित हो जाता है। तीसरा उपाय प्रश्नज्ञान है। इसमें प्रश्नकर्ता अर्थात् वादी एक प्रश्न करता है जिसका उत्तर प्रतिवादी दे देता है। ऐसा होने पर प्रश्नकर्तावादी की पराजय हो जाती है। चौथा उपाय प्रश्न-पराहित है। इसमें प्रश्नकर्ता जिस प्रश्न को पूछता है उसको प्रतिवादी निरर्थक प्रश्न बना देता है और इसलिए प्रश्नकर्ता की पराजय हो जाती है। अन्त में, पांचवा उपाय प्रश्न का अनुत्तरित हो जाना है। इसमें प्रश्न इतना कठिन हो जाता है कि वह समझ के बाहर रहता है और इसलिए प्रतिवादी उसकी उपेक्षा करता है। ऐसे प्रश्न अनुत्तरार्ह हैं अर्थात् उत्तर दिये जाने योग्य नहीं हैं।

समालोचना की इन पांचों विधियों का प्रयोग शंकर मिश्र ने वादिविनोद में ही नहीं किन्तु शांकरी, भेदरत्न आदि ग्रन्थों में भी किया है। उनकी इस आलोचना के कुछ महत्वपूर्ण विचार बिन्दु यहां विचारार्थ प्रस्तुत किये जायेंगे।

(2) स्वप्रकाशवाद का खण्डन

खण्डनखण्डखाद्य की शांकरी टीका में शंकर मिश्र ने स्वप्रकाशवाद का खण्डन किया है। अद्वैतवेदान्त में आत्मा को स्वप्रकाश माना जाता है। संवित्, चित्, चैतन्य या ज्ञान, स्वप्रकाश है। इसी मत को स्वप्रकाशवाद कहा जाता है। इसके आधार पर अद्वैतवेदान्त प्रत्येक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतः सिद्ध या प्रमाणित मानता है। अतः स्वप्रकाशवाद अद्वैतज्ञानमीमांसा का एक मौलिक आधार है।

श्री हर्ष ने बौद्धविज्ञानवाद का निरूपण करते हुए कहा है कि विज्ञान स्वप्रकाश है, अतः वह स्वतः सिद्ध है। यदि विज्ञान स्वप्रकाश न हो तो वह संशय, विपर्यय और अभाव (व्यतिरेक-प्रमा) से रहित नहीं हो सकता। किन्तु प्रामाणिक ज्ञान संशय, विपर्यय और व्यतिरेक-प्रमा से रहित होता है। इसलिए विज्ञान मात्र स्वप्रकाश है।

स्पष्टतः ज्ञान की निम्नलिखित तीन दशाएं होतीहैं - पहली

दशा में वह जिज्ञासित रहता है। दूसरी दशा में वह संशयादि से रहित होता है और तीसरी दशा में वह अन्य ज्ञान के अभाव से स्वप्रकाशता से प्रमित होता है। जिज्ञासित विज्ञान जब प्रमित विज्ञान हो जाता है तब वह वास्तव में [illegible] या प्रकाशित ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान का प्रमात्व सिद्ध करने के लिए ज्ञान को स्वप्रकाश मानना अनिवार्य हो जाता है। यदि उसका प्रमात्व स्वप्रकाश न हो तो उसके प्रमात्व को सिद्ध करने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी और उस दूसरे ज्ञानके प्रमात्व को सिद्ध करने के लिए एक तीसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी और इस रीति से ज्ञान के प्रमात्व को स्वप्रकाश या स्वतः सिद्ध न मानने पर अनवस्थादोष आ जायेगा। इस दोष के निवारण के लिए ज्ञानके प्रमात्व को स्वप्रकाश मानना अनिवार्य है [2]।

चित्सुख ने तत्वप्रदीपिका में स्वप्रकाश को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित अनुमान दिया है -

> अनुभूतिः स्वयं प्रकाशा, अनुभूतित्वात्
> यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटः ।

अर्थात् अनुभव स्वप्रकाश है, अनुभव होने के कारण|जो अनुभव नहीं है, वह स्वप्रकाश नहीं है, जैसे घट [3] । फिर स्वप्रकाश को परिभाषित करते हुए चित्सुख कहते हैं कि स्वप्रकाश का लक्षण असंभव नहीं है। वह

अवेद्य है किन्तु अपरोक्ष व्यवहार - योग्य भी है। यही उसका लक्षण है। न तावत् स्वयंप्रकाशे लक्षणासंभवः अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहार योग्यता-यास्तल्लक्षणत्वात् [4]।

न्यायरत्नदीपावली में आनन्दानुभव ने स्वप्रकाश के लिए एक और प्रमाण दिया है। वे कहते हैं कि एक संवित् दूसरी संवित् का विषय नहीं हो सकती क्योंकि दोनों समकक्ष हैं। समकक्ष संविदों में विषय-विषयीभाव नहीं देखा जाता और न उचित ही है। जैसे दो दीपक परस्पर प्रकाशक नहीं होते वैसे दो संविद् परस्पर प्रकाशक नहीं हैं। इस प्रकार संविद् अगोचर है, परन्तु स्वतः प्रकाशित है [5]। वास्तव में चैतन्य अपने विषय तथा अपने को एक साथ प्रकाशित करता है। शंकराचार्य कहते हैं कि पदार्थों के स्वरूप व्यभिचरित अर्थात् परिवर्तित होते रहते हैं, परन्तु उनका जो ज्ञाता साक्षी चैतन्य है वह अव्यभिचरित रहता है अर्थात् चैतन्य ज्ञान का स्वयंसिद्ध स्वरूप है और पदार्थ-ज्ञान या वृत्ति-ज्ञान आगन्तुक स्वरूप है। स्वरूपव्यभिचारिषु पदार्थेषु चैतन्यस्या-व्यभिचाराद्यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वम् [6]।

शंकर मिश्र ने उपर्युक्त स्वप्रकाशवाद का खण्डन किया है। उनके खण्डन को चित्सुख द्वारा प्रस्तुत एक उभयतःपाश के माध्यम से समझा जा सकता है। चित्सुख ने तत्वप्रदीपिका में स्वप्रकाशत्व के बारे में यह उभयतः पाश

प्रस्तुत किया है -

"यदि स्वप्रकाश के लिए कोई प्रमाण है तो वह वेद्य है और यदि कोई प्रमाण नहीं है तो वह असिद्ध है[76]।" यदि यहां प्रथम पक्ष को लिया जाता है तो स्वप्रकाशता में प्रमाण - प्रमेय - भाव या विषय-विषयी-भाव सिद्ध होगा। और यदि दूसरा पक्ष लिया जाता है तो स्वप्रकाश असिद्ध हो जायेगा। यहां शंकरमिश्र ने प्रथम पक्ष को स्वीकार किया है। इसलिए वे मानते हैं कि स्वप्रकाश में प्रपंच विषयीकृत होता है और इसलिए खण्डनखण्डखाद्य की युक्तियां प्रपंच के अस्तित्व का खण्डन करने में असमर्थ हैं। अर्थात् स्वप्रकाशवाद से प्रपंच का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है। उल्टे, इससे प्रपंच का सद्भाव सिद्ध होता है -

त्वया निम्मर्यि दत्तेऽस्मिन् स्वप्रकाशैकमन्दिरे
न्यासीकृतः प्रपंचोयं न्यापह्नोतुं तवार्हति।
प्रकाशपाशबद्धानां प्रपंचानां विमोचने
प्रभवन्तु स्वयं बाध्याः कथं खण्डनयुक्तयः ।।

अर्थात् स्वप्रकाश-रूपी मन्दिर में अद्वैतवेदान्तियों ने प्रपंच को बिठा दिया है। वे प्रपंच के अस्तित्व को छिपा नहीं सकते हैं। प्रकाश की डोरी से बंधे हुए प्रपंच को मुक्त करने में या हटाने में खण्डनखण्डखाद्य की युक्तियां कैसे सक्षम हो सकती हैं ? अर्थात् नहीं हो सकती हैं[8]। तात्पर्य यह है कि स्वप्रकाश में जो विषय-विषयी-भाव रहता है उसमें

संविद् या चैतन्य के अतिरिक्त प्रपंच या विषय का बोध भी रहता है। इसलिए स्वप्रकाश के द्वारा जगत्‌की मिथ्यात्व नहीं सिद्ध होता है। उल्टे, उससे प्रपंच या जगत् का सत्यत्व ही सिद्ध होता है। ऐसा शंकर मिश्र ने अद्वैतवेदान्त के खण्डन में कहा है। इसका तात्पर्य है कि स्वप्रकाशवाद में द्वैतापत्ति है।

शंकर मिश्र की इस आपत्ति का निराकरण कई प्रकार से किया गया है। सर्वप्रथम प्रगल्भ मिश्र ने खण्डनदर्पण में कहा है कि स्वप्रकाशज्ञान या स्वतः सिद्ध ज्ञान में सकल प्रपंच अध्यस्त है। जैसे शुक्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त रजत सत्य नहीं है वैसे अविद्याकृत संबंध से आभासित प्रपंच भी सत्य नहीं है। इसलिए स्वप्रकाशवाद में शंकर मिश्र ने जो द्वैतवाद दिखाया है वह अविद्या से कल्पित है औरवास्तविक नहीं है [1]। स्वप्रकाशवाद से द्वैतवाद नहीं सिद्ध होता है। वह आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी अन्य है उसको अध्यस्त या कल्पित मानता है और वस्तु - सत् केवल आत्मा या चैतन्य को मानता है। इसलिए स्वप्रकाशवाद अनिवार्यतः अद्वैतवाद है।

रघुनाथ शिरोमणि ने खण्डनखण्डखाद्य की टीका खण्डनभूषामणि में शंकर मिश्र की आलोचना की समीक्षा की है। उन्होंने शंकर मिश्र के मत की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस ज्ञान को स्वयंप्रकाश कहा जाता है उसका विषय सकल प्रपंच है और उसका विषय होने के कारण

प्रपंच मिथ्या नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त का प्रपंच मिथ्यात्ववाद असत्य हो जाता है। फिर स्वयंप्रकाश अद्वैत भी नहीं रहता क्योंकि उसके साथ प्रपंच का अस्तित्व संलग्न है। यदि कहा जाय कि प्रपंच के अस्तित्व के लिए क्या प्रमाण है ? तो इसके उत्तर में शंकर मिश्र कहेंगे कि प्रपंच का अस्तित्व वैसे ही स्वत: सिद्ध है जैसे स्वयंप्रकाश का अस्तित्व। और दोनों को प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। यदि अद्वैतवेदान्ती कहें कि नैयायिक के लिए ऐसा मानना अपसिद्धान्त है तो ठीक नहीं है क्योंकि नैयायिक ईश्वर-ज्ञान को मानते हैं और प्रपंच ईश्वर-ज्ञान का विषय है। पुनश्च ज्ञान को ज्ञानान्तर से वेद्य मानने से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे स्वप्रकाश को विषय-विषयी-भाव मानने पर नहीं रह जाते क्योंकि प्रपंच की सर्व-विषयता के कारण इनका निराकरण हो जाता है। अत: अद्वैतवेदान्तियों की स्वप्रकाश सम्बन्धी मान्यता वस्तुत: उनके वध के लिए है अर्थात् उनके मत के नाश के लिए है।

ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित करने के बाद रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं कि शंकर मिश्र का ऐसा कहना अज्ञानमूलक है और स्वयंप्रकाश की प्रमा का संप्रलाप मात्र है। ब्रह्मात्मकज्ञान का विषय प्रपंच है, ऐसा मानने में मुझे भी सर्वप्रपंच ज्ञान की आपत्ति है। अकल्पित - मिथ्याभूत भेद का अभाव सद्-रूप है, अभाव होने के कारण [10]। वे आगे कहते हैं

कि स्वप्रकाश ज्ञान के एक और अद्वितीय होने के कारण अविद्या दोष से प्रपंच का भान नहीं होता है।[11] अर्थात् स्वप्रकाशज्ञान से अविद्या-निवृत्ति हो जाती है और इस कारण अविद्या - कल्पित प्रपंच पारमार्थिक सत्य नहीं है। प्रपंच का अभाव ही स्वप्रकाश ज्ञान का विषय है, ऐसा कहना ~~अधिक युक्ति~~ अधिक युक्तिसंगत है।[12] प्रपंच स्वप्रकाश का विषय है, ऐसा कहना उचित नहीं है ; अपितु इसके विपरीत कथन उचित है। पुनश्च, ईश्वर - ज्ञान सत्य है, उसका विषय भी सत्य है, किन्तु उसका विषय प्रपंच की सत्यता नहीं है। इसलिए खण्डनखण्डखाद्य की युक्तियाँ जिनका शंकर मिश्र खण्डन करते हैं, अबाध्य हैं। अतः शंकर मिश्र की समालोचना उचित नहीं है।

पुनश्च, शंकर मिश्र ने स्वप्रकाश की जो आलोचना की है, वह वास्तव में बौद्ध विज्ञानवाद के स्वप्रकाशवाद पर घटित होती है, न कि अद्वैत वेदान्तके स्वप्रकाशवाद पर। क्योंकि दोनों के स्वप्रकाश -सिद्धान्त में अन्तर है। ज्ञान स्वयं ही प्रमेय और प्रमा है, यह योगाचार के अनुसार ज्ञान का स्वप्रकाशत्व है। किन्तु ब्रह्मवादी वेदान्ती के अनुसार स्वप्रकाश स्वव्यवहार-हेतु प्रकाश है अर्थात् वह मात्र प्रमा है और प्रमेय नहीं है।[13] अद्वैतवादियों के अनुसार स्वप्रकाश का विश्लेषण निम्नलिखित दशाओं में संभव है :-

(क) जागृत अवस्था में स्वप्रकाश का विषय घट, पट आदि व्यावहारिक

विषय है जिनमें अव्यभिचारी रूप से स्वप्रकाशरूपी ज्ञान व्याप्त है।

(ख) स्वप्न - अवस्था में स्वप्रकाश का विषय प्रातिभासिक वस्तु है जो स्वप्रकाश ज्ञान में उदित होता है।

(ग) सुषुप्ति - अवस्था में स्वप्रकाश निर्विषय है या उसका विषय अभाव है। इसके साथ ही वह आनन्द है जिसका अनुभव सुषुप्ति में सभी व्यक्तियों को होता है।

(घ) तुरीय - अवस्था में स्वप्रकाश निर्विषय, निष्प्रकाशक और निर्विशेष है। इस अवस्था में उसका विषय न तो भाव है और न अभाव।

शंकर मिश्र ने स्वप्रकाश की जो आलोचना की है वह उपर्युक्त प्रथम दो अवस्थाओं में विद्यमान स्वप्रकाश पर घटित होती है। अन्य दो अवस्थाओं में विद्यमान् स्वप्रकाश पर वह नहीं घटित होती है। रघुनाथ शिरोमणि ने जिस स्वप्रकाश का वर्णन किया है वह सुषुप्ति - अवस्था का स्वप्रकाश ज्ञान है। अतएव वह भी अद्वैतवेदान्त के स्वप्रकाश का पूर्ण विवरण नहीं है। प्रकाशात्मा ने <u>विवरण</u> में तथा चित्सुख ने <u>तत्वप्रदीपिका</u> में स्वप्रकाश को जिस रूप में स्वीकृत किया है वह इन दार्शनिकों की आलोचना से परे है। चित्सुख स्वप्रकाश को स्वसंवेदन मानते हैं; परन्तु वे स्व का अर्थ अन्य की व्यावृत्ति करने वाला अथवा स्वात्मवृत्ति का विधायक नहीं मानते [14]।

विज्ञानवादियों और वेदान्त के स्वप्रकाश सिद्धान्त में अन्तर करते हुए सभी वेदान्तियों ने माना है कि विज्ञानवादियों का विज्ञान स्वप्रकाश होते हुए भी आत्मा नहीं है और वह क्षणिक है। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्तियों का स्वप्रकाश आत्मा है तथा नित्य है। आत्मा होने के कारण स्वप्रकाश न तो द्रव्य है, न गुण और न कर्म [15]। नैयायिक और प्रभाकरमीमांसक ज्ञान को गुण मानते हैं, सांख्य ज्ञान को द्रव्य मानते हैं और कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायी ज्ञान को क्रिया मानते हैं [16]। इन सब मतों का खण्डन करते हुए अद्वैतवेदान्ती ज्ञान को स्वप्रकाश सिद्ध करते हैं। आत्मैवस्वयंप्रकाशः, ऐसा प्रकाशात्मा ने विवरण में कहा है [17]। यदि शंकर मिश्र ज्ञान के स्वरूप को अद्वैतवेदान्त के अनुसार समझने की चेष्टा करते तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि क्रिया न होने के कारण ज्ञान में कर्तृ - कर्म - भाव नहीं होगा, गुण न होने के कारण ज्ञान में विषय - विषयी - भाव पारमार्थिक नहीं है और द्रव्य न होने के कारण ज्ञान में द्वैत नहीं है।

फिर भी शंकर मिश्र ने स्वप्रकाश की जो आलोचना की है उसका वेदान्त पर गहरा प्रभाव पड़ा है। एक ओर उसके कारण अद्वैतवेदान्त में भावाद्वैतवाद की स्थापना हुई है जिसको मण्डनमिश्र मानते हैं और जिसका समर्थन रघुनाथ शिरोमणि करते हैं। भावा-द्वैत के अनुसार अत्यन्ताभाव या प्रपंच का अत्यन्ताभाव आत्मा के साथ सुसंगत है और आत्मा की अद्वैतता का निराकरण नहीं करता क्योंकि अद्वैतता का तात्पर्य केवल भावात्मक

पदार्थ की अद्वैतता है। फिर इसका दूसरा प्रभाव अद्वैतवेदान्त पर यह पड़ा कि अद्वैतवादियों ने आहार्यज्ञान को मान्यता दी जिसके अनुसार एक और अद्वितीय आत्मा को मानते हुए भी अद्वैतवादी कल्पित द्वैत या आभास का उपयोग कर सकता है और उससे आत्मा के निरतिशय आनन्द का लाभ कर सकता है। भक्ति - आन्दोलन के प्रभाव में अद्वैतवादियों ने इस प्रकार के द्वैत की कल्पना की है और उसे अद्वैत से भी सुन्दर माना है। भक्तिभावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्। परन्तु यहाँ यह न समझना चाहिए कि इस द्वैतवाद से अद्वैतवाद की हानि होती है क्योंकि यह द्वैतवाद आहार्यज्ञान का विषय है जो पारमार्थिक ज्ञान नहीं है। आहार्यज्ञान अध्यास नहीं है क्योंकि वह अज्ञानमूलक और दुःखद नहीं है।

(3) आनन्दवर्धन में अभेद का खण्डन

शंकर मिश्र ने अभेद का खण्डन करते समय भेदरत्न प्रकाश में प्रायः खण्डनखण्डखाद्य की भाषा और युक्ति का ही प्रयोग किया है। वे कहते हैं - दुर्दुरूढ़ वेदान्ती का निराकरण खण्डनखण्डखाद्य की युक्तियों से ही किया जाना चाहिए -

दुर्दुरूढ़वेदान्तिनस्तु खण्डनयुक्त्यैव निरसनीयाः[18]। पुनश्च, कभी-कभी वे खण्डनखण्डखाद्य के श्लोक का ज्यों का त्यों अर्थ अपने पक्ष में करते हैं और कभी-कभी वे खण्डनखण्डखाद्य के श्लोकों में थोड़ा परिवर्तन करके वैरूप्यवाद प्रस्तुत करते हैं। उनके इस प्रयोग से स्पष्ट है कि उन पर

खण्डनखण्डखाद्य की चिन्तन-प्रणाली का गहरा प्रभाव था। उन्होंने जिस प्रकार खण्डनखण्डखाद्य की युक्तियों का सहारा लेते हुए भेद को सिद्ध किया है उसमें निम्नलिखित स्थल अत्यन्त उल्लेखनीय हैं :-

{क} जैसे केवल एक ब्रह्मास्त्र का लेकर अद्वैतवेदान्ती द्वैतवाद का खण्डन करते हैं वैसे ही शंकर मिश्र केवल भेदास्त्र को लेकर अद्वैतवाद का खण्डन करते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने खण्डनखण्डखाद्य के निम्नलिखित श्लोक का वैरूप्य किया है -

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्
आस्ते न धीरवीरस्य भंगः संगरकेलिषु ।।[19]

इस श्लोक में ब्रह्मास्त्र के स्थान पर भेदास्त्र को रखकर उन्होंने निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया है -

एकं भेदास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्
आस्ते न धीरवीरस्य भंगः संगरकेलिषु[20] ।।

उनका भेदास्त्र भी चतुर्विध है, {1} अन्योन्याभावरूपी भेद का अस्त्र है, {2} स्वरूप - भेद का अस्त्र है, {3} वैधर्म्य - भेद का अस्त्र है और {4} अन्यत्व {पृथक्त्व} का भेद है। ऐसा इसलिए है कि वे भेद के चार प्रकार मानते हैं, वे हैं - अन्योन्याभाव, स्वरूपभेद, वैधर्म्यभेद और अन्यत्व। अन्योन्याभाव के अनुसार ब्रह्म और प्रपंच में भेद है या ब्रह्म और अभेद

में भी भेद है। इसलिए अन्योन्याभाव के आधार पर ब्रह्म को भेद या अभिन्न कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्म का अभेद से भेद है। स्वरूप-भेद का तात्पर्य है कि जैसे घटत्व और भेद भिन्न है और घट का स्वरूप-भेद पट का प्रतियोगी है वैसे ही ब्रह्म को अभेद कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्म का किसी से स्वरूपभेद है जिससे उसका अभेद किया जाता है। वैधर्म्य का तात्पर्य साधर्म्य का विरोधी धर्म है जो वास्तव में किसी विषय का व्यावृत्तिधर्म होता है। ब्रह्म का जो व्यावर्तकधर्म, लक्षण या गुण है वह उसका वैधर्म्य है। अन्त में, अन्यत्व उपर्युक्त तीनों प्रकार के भेदों से भिन्न भेद है। खण्डन-खण्डखाद्य में इन चारों प्रकारों के भेदों का खण्डन किया गया है। उसकी विद्यासागरी टीका में आनन्दपूर्ण ने कहा है कि स्वरूपभेद को प्राभाकर मीमांसक मानते हैं, अन्योन्याभाव को कुछ नैयायिक मानते हैं, वैधर्म्य को कुछ भाट्टमीमांसक मानते हैं और अन्यत्व को वैशेषिक मानते हैं।[2] उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि भेद की अवधारणा मुख्यत: चार प्रकार से की जाती है और उसको चार प्रमुख दार्शनिक - सम्प्रदाय प्रस्तुत करते हैं। शंकर मिश्र ने भेदरत्न में इन चारों प्रकार के भेदों को सिद्ध किया है।

(ख) एक दूसरा श्लोक जिसको शंकर मिश्र ने थोड़ा बदल कर रखा

है वह निम्नलिखित है -

आद्यधीवेद्य भेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधको नाद्वयश्रुतिम्[22]।

अर्थात् घट और पट भिन्न है -यह आदि या प्रथम बुद्धि है। इससे वेद्य विषयों में घट और पट में परस्पर भेद है। इसको सिद्ध करने वाली युक्ति निम्नलिखित अर्थापत्ति है -

"यदि घट और पट में भेद न हो तो घट और पट भिन्न हैं - ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता ; किन्तु ऐसा ज्ञान होता है। इसलिए घट और पट में भेद है। यह अर्थापत्ति घट और पट का ही भेद सिद्ध करती है, अपना और अपने ज्ञान का भेद नहीं बताती। इस प्रकार उत्तरोत्तर भेद प्रमा की अन्यथा-अनुपपत्ति से पूर्व - पूर्व का भेद सिद्ध होता है और इस क्रम से अन्ततोगत्वा कहीं न कहीं विषय और विषयी का भेद अज्ञात रहेगा और वहां अद्वैत श्रुति का बाध नहीं होगा अर्थात् अन्त में अद्वैत-श्रुति जिस ज्ञान को लक्षित करती है वह ज्ञान अभेद को सिद्ध करता है। इस प्रकार श्रीहर्ष कहते हैं कि

दूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा ।
विनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते[23]।।

अर्थात् भेद और अभेद के युद्ध में अन्त में भेदवादी पक्ष को अभेद-वादी पक्ष पराजित कर देता है। जब बहुत दूर तक लड़ते -

लड़ते भेदवादी थक जाता है तो अद्वैतवादी उसको हरा देता है और श्रुतियों के अद्वैतवाद की पताका को फहरा देता है।

परन्तु इसका दो टूक उत्तर देते हुए शंकर मिश्र ने निम्न-लिखित श्लोक कहा -

आद्यधीवेद्यभेदीयाऽप्यन्त्यानुपपन्नता ।

स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाध्यते ना द्वयागमैः[24]।।

अर्थात् उत्तरोत्तर भेद से जो पूर्व - पूर्व भेद सिद्ध होता है उसका अन्त कभी भी अभेद-बुद्धि में नहीं होगा और अन्त-तोगत्वा विषयी - विषय - भाव या प्रमाण - प्रमेय - भाव अक्षुण्णरूप से बना रहेगा। यह भेद अद्वैत-श्रुति से भी बाधित नहीं होता है क्योंकि शंकर मिश्र के अनुसार अद्वैतश्रुतियां भी भेदपरक हैं। उन्होंने सिद्ध किया है कि सभी श्रुतियां जिनमें अद्वैत श्रुतियाँ भी सम्मिलित हैं, भेद परक है।[25] वे कहते हैं कि तत् त्वम् असि आदि श्रुति भी भेदपरक हैं क्योंकि युष्मत् शब्द का अर्थ तत् (उस) शब्द से भिन्न अर्थ रखता है। पुनश्च द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य का विधान करके श्रुति स्वयं चार प्रकार के भेद का विधान करती है। इसलिए कोई ऐसी श्रुति नहीं है जो शब्द के बल से या अर्थ के बल से भेद को प्रकाशित न करे। तथा चनेसा श्रुतिर्यत्र शब्दबलाद्

अर्थबलाद् वा भेदो न भासतइति [26]। जिस निर्विकल्पक ज्ञान का वर्णन श्रुति में किया गया है यद्यपि उसका विषय कोई विशिष्ट पदार्थ नहीं है और इसलिए उसमें अन्योन्याभावरूपभेद भी प्रकाशित नहीं होता है तथापि उसमें भी स्वरूपभेद और घटादि वैधर्म्य - रूप घटत्वादि - भेद प्रकाशित होते हैं। इसलिए उसका भी विषय भेद है।[27] अतएव जैसे श्रीहर्ष ने निम्नलिखित श्लोक के द्वारा सलाह दी थी कि बुद्धिमान् लोगों को अभेद-ज्ञान रूपीचिन्तामणि को समुद्र में नहीं फेंकना चाहिए अपितु सदैव अपने हाथ में रखना चाहिए वैसे ही शंकर मिश्र उन्हीं की भाषा में कहते हैं कि बुद्धिमान् लोगों को भेदरूपीचिन्तामणि को समुद्र में नहीं फेंकना चाहिए प्रत्युत सदैव अपने हाथ में लिए रहना चाहिए -

> धीधना। बाधनायास्यास्तदाग्रहं प्रयांथ ।
> क्षेप्तुं चिन्तामणि पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छया [28]।।

इस प्रकार जैसे श्रीहर्ष ने भेदवादी न्यायदर्शन के अन्दर घुसकर अभेदवाद के द्वारा उसका निराकरण किया, उसी प्रकार शंकर मिश्र ने भी अद्वैतवेदान्त के अन्दर घुसकर भेदवाद के द्वारा अभेदवाद का खण्डन किया। श्रीहर्ष के निम्नलिखित श्लोक को देखिए जिसमें उन्होंने अपनी विजय और उसकी विधि को घोषित किया -

> सुदूरधावनश्रान्तः बाधबुद्धिपरम्परा
> विनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ।।

इसी श्लोक में कुछ हेरफेर करके शंकर मिश्र ने अपनी विजय और उसकी विधि को स्थापित किया -

सुदूरन्धावनाश्रान्ता बाह्यबुद्धिपरम्परा।

विनिवृत्ताद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्न जीयते ।।

अर्थात् भेदवादी बहुत दूर तक अद्वैतवाद की आलोचना करते थकता नहीं है। वह अद्वैतश्रुतियों के द्वारा परास्त नहीं होता अपितु उनकी द्वैतवादी व्याख्या करता है। इस प्रकार वह अद्वैतवाद पर भेदवाद की विजय स्थापित करता है।

यद्यपि शंकर मिश्र ने बड़ी विद्वता से श्रीहर्ष को उन्हीं के शब्दों में उत्तर दिया है तथापि भूषामणिकृत रघुनाथ को यह अच्छा नहीं लगा उन्होंने इस पर व्यंग्य करते हुए कहा कि शंकर मिश्र काव्य रचना कौशल से अपने शिष्यों का आमोद भले करें किन्तु वे खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन करने में असमर्थ हैं। उनके शब्द यों है :-

इत्यलं काव्यरचनाकुशलानां तेनैव स्वशिष्यानाम् आमोदयतां खण्डनकथया [29]।

रघुनाथ पुनः कहते हैं कि उनके परमगुरु सार्वभौम भट्टाचार्य ने शंकर मिश्र के अद्वैत खण्डन को सुनकर कहा था कि -

वाचस्पतिशंकरयो - र्गौतमकृतबुद्धिशास्त्र - गर्वितयोः ।
निर्वापयामि गर्वमेकं ब्रह्मास्त्रमादाय [30] ।।

मैं अभिनव वाचस्पति मिश्र और शंकर मिश्र के गौतमकृत न्यायशास्त्र के गर्व को ब्रह्मास्त्र अर्थात् ब्रह्माद्वैतवाद से नष्ट कर दूँगा। इस प्रकार सार्वभौम भट्टाचार्य और उनकी परम्परा के रघुनाथ शंकर मिश्र के कट्टर आलोचक हैं। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज उपर्युक्त रघुनाथ को रघुनाथ शिरोमणि से अभिन्न मानते हैं, किन्तु प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य इन को रघुनाथ शिरोमणि से भिन्न मानते हैं और उन्हें रघुनाथ विद्यालंकार कहते हैं।[31] कुछ भी हो, खण्डनखण्डखाद्य की टीका भूषामणि में सार्वभौम भट्टाचार्य की परम्परा का निर्वाह किया गया है और शंकर मिश्र को श्रीहर्ष की ओर से प्रत्युत्तर दिया गया है।

§4§ आनन्दवर्धन का मर्म

शंकर मिश्र ने अपने ग्रन्थ आनन्दवर्धन में श्रीहर्ष के ऊपर उन्हीं के अस्त्र से प्रहार किया है। उनके अनेक शब्दों का अर्थ उन्हीं की रीति से किया है तथा उनको अपने पक्ष के समर्थन में प्रयुक्त किया है। पुनश्च, श्रीहर्ष की कई सूक्तियों में किंचित् परिवर्तन करके उन्होंने श्रीहर्ष को सशक्त उत्तर दिया है। इन सब रीतियों में उन्होंने श्रीहर्ष के निम्नलिखित परामर्श को स्वीकार किया है -

तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे ।

शृङ्खला तस्य रोषे चीत्रधा भ्रमीतमीत्क्रया [32]।।

अर्थात् खण्डनखण्डखाद्य की खण्डनीति की त्रिविध शैली का अनुकरण किया है जो इस प्रकार है :-

(क) यहाँ वर्णित युक्तियों के समान अन्य युक्तियाँ प्रस्तुत करना,

(ख) यहाँ वर्णित युक्तियों का प्रयोग विषयान्तरों में करना,

(ग) खण्डनीय प्रकथन के किसी शब्द के अर्थ को लेकर उस प्रकथन का खण्डन करना और खण्डन की एक ऐसी परम्परा स्थापित करना जिससे वादी न बच सके।

शंकर मिश्र ने इन्हीं तीन रीतियों से स्वप्रकाशवादऔर अभेदवाद का खण्डन कर यह प्रतिपादित किया कि प्रपंच मिथ्या नहीं है। दूसरे शब्दों में प्रपंच का ब्रह्म से अभेद नहीं है। अर्थात् प्रपंच और ब्रह्म दो स्वतन्त्र और भिन्न सताएं हैं।

(5) अनिर्वचनीयतावाद का खण्डन

खण्डनखण्डखाद्य का एक अन्य नाम अनिवर्चनीयतासर्वस्व भी है।यह माना जाता है कि श्रीहर्ष ने इसमें प्रतिपादित किया है कि जगत् सत्-असत् से विलक्षण है। सत् - असत् विलक्षण को ही अद्वैतवेदान्ती अनिर्वचनीय कहते हैं। श्री हर्ष कहते हैं -

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतो:
का तदस्तु गतिरतत्तद्वस्तुधीव्यवहारयो:?।।
उपपादयितुं तैस्तोर्मतैरशंकनीययो:।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवागतिस्तयो: ।।

अर्थात् यदि समस्त ज्ञान और उनके विषयों का निर्वचन संभव नहीं है, तो शास्त्रमत और लोकमत में मान्य विषयों के ज्ञान और व्यवहार की क्या गति होगी? उत्तर है कि सभी विषय और उनके ज्ञान सर्वथा असत्य नहीं है; क्योंकि वे प्रतीत होते हैं। किन्तु वे सर्वथा सत्य भी नहीं हैं, क्योंकि उनकी सत्यता की सिद्धि के समस्त साक्ष्य दूषित हैं। अत: उनकी व्यावहारिकता मानने के लिए अनिर्वचनीयतावाद की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है।[33]

इसी मत का प्रतिपादन मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतरत्नरक्षण में किया है। उनके अनुसार प्रमात्व अनिर्वचनीय है, ऐसा लोकसिद्ध है। उसी का आश्रय लेकर समस्त व्यवहार अविद्या-निवृत्ति-पर्यन्त होते हैं।[34] श्रीहर्ष और मधुसूदन सरस्वती अन्ततोगत्वा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी वादियों को अन्ततोगत्वा अनिर्वचनीयतावाद को ही स्वीकार करना पड़ता है। यही समस्त वादन्याय का निष्कर्ष है।

शंकर मिश्र ने अनिर्वचनीयतावाद का भी खण्डन भेदरत्न में किया है। वे अद्वैतवादियों से कहते हैं, "यदि मिथ्यात्व का अर्थ सद्-

असद् से अनिर्वचनीयत्व है तो यह वस्तुदोष नहीं अपितु आप की निर्वचन न कर सकने की अयोग्यता है। यदि आप निर्वचन करना चाहते हैं तो हमारे मार्ग (न्यायमार्ग) को स्वीकार करें। यदि आप यह कहते हैं कि आप (नैयायिक) भी निर्वचन नहीं कर सकते तो आप के समक्ष पहले ही निर्वचन कर दिया गया है। यदि आप यह कहते हैं कि सत्त्वपक्ष और असत्त्वपक्ष में दोष होने के कारण प्रपंच की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया जाता है, तो प्रश्न उठता है कि अनिर्वचनीयत्व में दोष है या नहीं ? यदि दोष है, तो आप वदतोव्याघात करते हैं। यदि नहीं है तो अनिर्वचनीयत्व वास्तविक धर्म है; जिसमें व्यवस्थित होने के कारण प्रपंच ब्रह्मभिन्न हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप फिर आपको अद्वैतवाद की तिलांजलि देनी पड़ेगी। यदि आप कहते हैं कि अनिर्वचनीयत्व भी अपारमार्थिक है तो फिर आप मेरे द्वारा स्वीकृत निर्वचनीयत्व को ही मान रहे हैं।अतः ऐसी स्थिति में हमारे और आपके बीच कोई विवाद नहीं है। प्रपंच निर्वचनीयत्व - अनिर्वचनीयत्व, इन दोनों अभावों से युक्त है, अतः भेद सिद्ध है। यदि आप यह कहें कि निर्वचनीयत्व - अनिर्वचनीयत्व इन दोनों में परस्पर विरोध होने के कारण मैं ऐसा नहीं मानता और दोनों में से किसी एक पक्ष को ही मानता हूँ, तो इस रीति से भी प्रपंच व्यवस्थित होगा और भेदसिद्ध हो जाएगा। इसलिए सभी पक्ष हम-जैसे भेदवादियों के लिए इष्ट हैं और आपका अनिर्वचनीयतावाद भंग हो जाता है।[35]

पुनश्च, अद्वैतवेदान्ती प्रपंच को अपारमार्थिक, व्यावहारिक या अनिर्वचनीय कहते हैं तथा ब्रह्म को पारमार्थिक मानते हैं। इस पारमार्थिक और अपारमार्थिक का भेद मानने के कारण अद्वैतवेदान्ती भेद को अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि वे यह कहें कि भेद व्यावहारिक है और परमार्थतः अभेद ही सत्य है, तो शंकर मिश्र कहते हैं कि प्रपंच का अपारमार्थिकत्व ही ब्रह्म का पारमार्थिकत्व सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म के पारमार्थिकत्व और प्रपंच के अपारमार्थिकत्व में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। दोनों एक हैं। अतः वेदान्तियों द्वारा इसको सिद्ध करने का सारा प्रयास व्यर्थ है; क्योंकि पारमार्थिक और अपारमार्थिक का द्वैत बिना इनका भेद माने संभव नहीं है। भेद दो समकोटिक विषयों में होता है। अतः भेद व्यावहारिक है, यह मत निरस्त हो जाता है। व्यवहार और परमार्थ का भेद सदैव बना रहता है। अतएव भेद पारमार्थिक है।[36]

पाद-टिप्पणी तथा सन्दर्भ :-

1- वादिविनोद, पृ0 1.

2- खण्डनखण्डखाद्य, शांकरी सहित तथा हिन्दी टीका तत्वबोधिनी सहित, हिन्दी अनुवादक स्वामी हनुमानदास षट्शास्त्री, चौखम्भा, 1970, पृष्ठ 44.

3- तत्त्वप्रदीपिका, पृष्ठ 21.

4- वही पृष्ठ 16.

5- न्यायरत्नदीपावली, पृष्ठ 118-119.

6- प्रश्नोपनिषद् भाष्य शंकराचार्य 6/2.

7- तत्त्वप्रदीपिका पृष्ठ 15.

8- शांकरी सहित खण्डनखण्डखाद्य, हिन्दी टीका तत्वबोधिनी सहित, हनुमानदास षट्शास्त्री, पृष्ठ 68.

9- स्वतः सिद्धप्रकाशे हि सकलप्रपंचस्याध्यस्तत्वात् न हि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याध्यस्तं रजतं सत्यं तद्वदिदमप्यविद्याकृत-सम्बन्धेनावभास्यमपि न सत्यं भवितुं प्रभवति। किंच प्रपंचस्याविद्योपादानकत्वेन शुक्तिरजतवन्मिथ्यात्वात् तस्मान्न्यायविदां स्वाविद्याकल्पितं द्वैतमिति तत्त्वम् ।

खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुख, शंकर मिश्र, रघुनाथ विद्यालंकार, प्रगल्भमिश्र और सूर्यनारायण शुक्ल की क्रमश: भावदीपिका, शांकरी, खण्डनभूषामणि, खण्डनदर्पण और खण्डनरत्नमालिका के सहित, चौखम्भा, वाराणसी, पृ० 182-183 •

10- वही पृ० 188•

11- वही पृ० 189, अथ तत्र सत्यपि तदोक्त्वे अविद्या दोषान् न प्रपंचभा॰॰नम्।

12- किंच ब्रह्मण: प्रपंच मिथ्यात्वेमानम् न हि तव तथा। प्रपंचाभाव विषद्यत्व मेव तन्मानम् इति वदतस् तद्वैपरीत्यस्यैव सुवचत्वात्, वही पृ० 189•

13- देखिए, सूर्यनारायण शुक्ल खण्डनरत्नमालिका, "यद्यपि योगाचारो ब्रह्नवादी चोभौ विज्ञानं स्वप्रकाशं मनुतस्तथापि तयोर्नैकरूपं विज्ञानस्वप्रकाशत्वम् किन्तु योगाचारमते ज्ञानस्य स्वयमेव प्रमात्वं प्रमेयत्वं चेत्येवं रूपं स्वप्रकाशत्वं ब्रह्मवादिनस्तु स्वव्यवहार हेतुप्रकाशत्वरूपं स्वप्रकाशत्वमिति। वही पृ० 121•

14- स्वसंवेदनं संवेदनमित्यत्र स्वशब्द: स्वयंदासास्तपस्विनं इतिवदन्यव्यावृत्तिपरो न तु स्वात्मवृत्तिविधायक इत्यर्थ:। न्यायमकरन्द पर चित्सुख की टीका, देखिए चित्सुख टीका सहित न्यायमकरन्द चौखम्भा, वाराणसी, 1901, पृ० 143•

15- देखिए, विवरण, प्रकाशात्मा, पृष्ठ 249.

16- दे0 तत्त्वदीपन, अखण्डानन्द 9.314 .

17- विवरण, पृष्ठ 250 .

18- देखिए, भेदरत्नम्, सं. सूर्यनारायण शुक्ल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, 1933, पृ0 16, जिसका शुद्धपाठ वही परिशिष्ट में दिया गया है।

19- खण्डनखण्डखाद्य 1/15 .

20- भेदरत्नम् पृष्ठ 66 .

21- स्वरूपमेव भेद इति प्रभाकरमतोपन्यासः। अन्योन्याभावइति नैयायिकैकदेशिनाम्, भट्टैक देशिनां मतं वैधर्म्यमिति, वैशेषिकस्य अन्यदेवेति पृथक्त्वं गुण इत्यर्थः। खण्डनखण्डखाद्य, विद्यासागरी सहित तथा हिन्दी अनुवाद सहित, हिन्दी अनुवादक स्वामी योगीन्द्रानन्द, वाराणसी , 1979, पृ0 96.

22- खण्डनखण्डखाद्य 1/10 .

23- वही 1/8 .

24- भेदरत्नम्, शंकरमिश्र, पृ0 65 .

25- वही पृष्ठ 4 और 8.

26- वही पृ0 8 .

27- निर्विकल्पकीधयां यद्यपि न तैशिष्टयं विषय इति अन्योन्याभावो भेदो न भासते तथापि स्वरूपभेदो घटादिवैधार्म्यंच घटत्वादिर्भासते। तेनैव भेदविषयता। वही पृ0 9-10 ·

28- खण्डनखण्डखाद्य 1/23·

29- शांकरीसहित खण्डनखण्डखाद्य, सं0 भागवताचार्य चौखम्भा, 1917, पृ0 98 टिप्पणी 1·

30- काशी की सरस्वत साधना; गोपीनाथ कविराज, पृ0 10·

31- हिस्ट्री आव नव्य न्याय इन मिथिला, दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, दरभंगा, 1958 पृ0 141·

32- खण्डनखण्डखाद्य, शांकरी सहित, हिन्दी अनुवादक हनुमानदास षट्शास्त्री, पृ0 753·

33- खण्डनखण्डखाद्य, प्रथम परिच्छेद श्लोक 38; 39 ;

34- अद्वैतरत्नरक्षण, पृ0 32 ·

35- भेदरत्न पृ0 45-46 ·

36- वही, पृष्ठ 50-51 ·

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय

क्या शंकर मिश्र ने खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन किया है ?

§1§ आनन्दवर्धन की त्रिविध व्याख्या

शंकर मिश्र के आनन्दवर्धन के बारे में तीन मत प्रचलित है :-
पहले मत के अनुसार आनन्दवर्धन खण्डनखण्डखाद्य की व्याख्या है । इस कारण इसमें खण्डनखण्डखाद्य के ही प्रतिपाद्य विषय का समर्थन है । ऐसा मत डा० गंगानाथ झा[1] और डा० उमेश मिश्र[2] का है । दूसरे मत के अनुसार आनन्दवर्धन में कहीं- कहीं खण्डनखण्डखाद्य के प्रतिपादनों का खण्डन किया गया है, परन्तु अन्ततोगत्वा खण्डनखण्डखाद्य के ही प्रतिपाद्य विषय का समर्थन किया गया है । ऐसा नविकान्त झा[3] और प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य[4] मानते है । उनके मतानुसार अन्ततोगत्वा शंकर मिश्र श्री हर्ष के अनिर्वचनीयतावाद को मान लेते हैं । तीसरा मत उन लोगों का है जो कहते हैं कि आनन्दवर्धन में खण्डनखण्डखाद्य का पूर्ण खण्डन किया गया है । इस मत से प्रेरणा लेकर शंकर मिश्र के समकालीन अभिनव वाचस्पति मिश्र और उनके परवर्ती गोकुलनाथ ने खण्डनखण्डखाद्य का स्पष्टतः निराकरण किया है । इस निराकरण का आरम्भ शंकर मिश्र ने ही किया था । उनके प्रयत्न से ही खण्डनखण्डखाद्य का स्थान नव्यन्याय के क्षेत्र में गौरवपूर्ण हो गया ? । इस मत के अनुसार खण्डनखण्डखाद्य जहां अद्वैतवाद की ओर झुका है वहां आनन्दवर्धन न्यायदर्शन की ओर झुका है । अद्वैतवेदान्त और

न्यायदर्शन इस प्रकार एक दूसरे के समकक्ष हैं और इनमें से किसी एक का अन्तर्भाव दूसरे में नहीं किया जा सकता है । यदि शांकर मिश्र का आनन्दवर्धन न्यायदर्शन को पूर्णरूप से अद्वैतवेदान्त का समकक्ष बनाता है , तो एक प्रकार से उनका यह कार्य उदयन की परम्परा का निर्वाह करता है ।

§2§ प्रथम व्याख्या का विवेचन

आनन्दवर्धन के विषय में पहले मत का वर्णन करते हुए महामहोपाध्याय उमेश मिश्र कहते हैं कि " शांकर मिश्र , और प्रगल्भ मिश्र इत्यादि नैयायिकों ने खण्डनखण्डखाद्य पर व्याख्यान इसलिये लिखा कि यह ग्रन्थ नव्यन्याय की शैली में लिखा गया था और इसका आधार न्यायदर्शन का वितण्डावाद है[5] । म0म0 योगेन्द्र नाथ बागची भी यही कहते है कि श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य वितण्डाकथा का श्रेष्ठ उदाहरण है [6]। इसी प्रकार प्रो0 कालिदास भट्टाचार्य भी मानते हैं कि शांकर मिश्र की खण्डनटीका नव्यन्याय का ग्रन्थ है[7] । इस प्रकार खण्डनखण्डखाद्य का प्रतिपाद्यविषय वितण्डा है ।

डा0 गंगानाथ झा शांकर मिश्र के वादिविनोद और श्रीहर्ष के खण्डनखण्ड खाद्य दोनों का प्रयोजन एक ही बताते है । वह प्रयोजन है वादविवाद में अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करना[8]। श्रीहर्ष लिखते है :-

शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्त:
सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान् ।
धीरा यथोक्तमपि कीर्तयतदुक्त्या
लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ।।

अर्थात् हे दिग्विजय के इच्छुक दार्शनिको ! खण्डनखण्डखाद्य को तोते के समान रटकर यथावत् बोलिये और अपने प्रतिद्वन्द्वी के शब्दार्थ- निर्वचन को काटकर उन्हें चुप कर दीजिये । निश्चय ही आप विजयी होंगे [9] ।

इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी के प्रौढ़ अहंकार को दूर करना और विजयलाभ करना खण्डनखण्डखाद्य का प्रयोजन है । बिल्कुल यही प्रयोजन वादिविनोद का है[10] यह प्रयोजन निम्नलिखित रीति से सिद्ध किया जाता है -

मानाधीनामेयसिद्धि
मानसिद्धिश्च लक्षणात् ।
लक्षणानि च दुष्टानि
सर्वाण्येवाविशेषत: ।।[11]

अर्थात् मेय की सिद्धि प्रमाणाधीन है और प्रमाण की सिद्धि लक्षणाधीन है । परन्तु सभी लक्षण दूषित हैं । इसलिये कोई लक्ष्य या परिभाष्य विषय सिद्ध नहीं होता ।

इस प्रकार यद्यपि निर्वचन की असंभावना के आधार पर श्रीहर्ष ने न्यायदर्शन के पदार्थों का खण्डन किया और अपने मत को ब्रह्माद्वैतवाद बताते हुए ब्रह्म को अखण्डनीय सिद्ध किया , तथापि खण्डन की इस ज्वाला से ब्रह्म का लक्षण भी ध्वस्त हो गया । अत: डा० गंगानाथ झा ठीक ही कहते हैं कि श्रीहर्ष ने खण्डन-पद्धति को इतना व्यापक बनाया कि उसमें प्रपंच के पदार्थों, माया और ईश्वर के साथ ब्रह्म के लक्षण भी दूषित हो गये और यह सिद्ध हो गया कि ब्रह्म की भी सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती [12]। यही नहीं, स्वंय श्रीहर्ष कहते हैं :-

अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा ।

तत्तानि कस्मान्न यथाऽभिलाषं सैद्धान्तिकेऽप्य ध्वनि योजनयध्वम् ।[13]

अर्थात् हे वादिगण ! यद्यपि खण्डनयुक्तियों की खोज द्वैतवाद के खण्डन और अद्वैतवाद के समर्थन के लिये की गई है तथापि आप लोग भी अपने अभीष्ट सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये इनका उपयोग कर सकते हैं क्योंकि जैसे राजाज्ञा अनुल्लँघनीय होती है वैसे ही खण्डन-युक्तियां भी निरकुंश हैं ।

इस प्रकार स्वंय श्रीहर्ष घोषित करते हैं कि उनका खण्डनखण्डखाद्य वितण्डावाद का ग्रन्थ है । इसी कारण खण्डनखण्डखाद्य को सार्वपथीन अर्थात् सर्वमार्गीय ग्रन्थ कहा गया है । इसविचार से ही इस पर अद्वैतवेदान्तियों तथा नैयायिकों ने अपने-अपने व्याख्यान लिखे हैं ।

स्वामी योगीन्द्रानन्द जिन्होंने खण्डनखण्डखाद्य ,चित्सुखी और अद्वैतसिद्धि इन तीनों महान् ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है, ने भी कहा है कि खण्डनखण्डखाद्य वितण्डा जाति का एक जाज्वल्यमान् रत्न है । श्रीहर्ष वैतण्डिक-मार्तण्ड हैं और उन्होंने खण्डनखण्डखाद्य में कहीं-कहीं जो ब्रह्माद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है वह भी भावावेश में कही गई उक्ति है तथा स्वपक्ष का मात्र संकीर्तन है,संस्थापन नहीं [14] ।

अत: स्पष्ट है कि खण्डनखण्डखाद्य वितण्डा का ग्रन्थ है और यदि श्रीहर्ष को वितण्डा का प्रयोग करते हुए अपने पक्ष के संकीर्तन करने का अधिकार है तो

शांकर मिश्र को भी वितण्डा का प्रयोग करते हुए अपने पक्ष को मानने का अधिकार है । यह उल्लेखनीय है कि जहां तक वितण्डा का प्रश्न है वहां तक शांकर मिश्र का आनन्दवर्धन सच्चे अर्थ में खण्डनखण्डखाद्य की प्रामाणिक व्याख्या है ।

§3§ द्वितीय मत का विवेचन

प्रथम मत के विवेचन से ही निष्कर्ष निकलता है कि द्वितीय मत उपयुक्त नहीं है । पुनश्च उसमें निम्नलिखित दोष भी हैं :-

§क§ यह कहना कि शांकर मिश्र ने जगह- जगह आनन्दवर्धन में खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन किया है और अन्ततोगत्वा उसके अनिर्वचनीयतावाद को या ब्रह्माद्वैतवाद को मान लिया है, शांकर मिश्र के प्रति अन्याय है, क्योंकि यह कथन वदतोव्याघात है । यह उल्लेखनीय है कि शांकर मिश्र ने उन्हीं स्थलों पर खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन किया है जहां ब्रह्माद्वैतवाद का प्रतिपादन है । जहां यह प्रतिपादन नहीं है वहां उन्होंने उसका खण्डन नहीं किया । इसलिये उनका खण्डन निश्चित रूप से अद्वैतवाद-विरोधी है ।

§ख§ शांकर मिश्र ने स्वंय आनन्दवर्धन में दो स्थानों पर अपने भेदप्रकाश का उल्लेख किया है[15] और कहा है कि भेदप्रकाश में भेद का उद्धार किया गया है । दूसरे शब्दों में खण्डनखण्डखाद्य में भेद का जो खण्डन किया गया है उससे भेद का उद्धार भेदप्रकाश में किया गया है । भेद प्रकाश में भी जगह- जगह खण्डनखण्डखाद्य के अभेदवादी कथनों का खण्डन किया गया है।अत: प्रो0 दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य

के निम्नलिखित कथन निराधार प्रतीत होते है :-

§1§ शंकर मिश्र आनन्दवर्धन में दो रूप में दिखाई पड़ते हैं । पहले रूप में वे श्रीहर्ष के मत को वेदान्त की दृष्टि से समझते हैं और दूसरे रूप में वे द्वैतवाद के आधार पर श्रीहर्ष का खण्डन करते हैं [16] ।

§2§ शंकर मिश्र सर्वत्र उपसंहार में श्रीहर्ष के साथ समझौता कर लेते हैं और कहते हैं कि अद्वैत में ही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है [17] ।

वास्तव में डा०दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य ने शंकर मिश्र को समझने में असावधानी बरती है । विशेष रूप से उन्होंने शंकर मिश्र के एकेश्वरवाद को समझने में भूल की है । शंकर मिश्र कहते हैं कि अद्वैतवाद का एक प्रकार एकेश्वरवाद है जो नैयायिकों के लिये अपसिद्धान्त नहीं है क्योंकि वे ईश्वरज्ञान को मानते हैं वे कहते हैं ,

नापि अस्माकं अपसिद्धान्तः ईश्वरज्ञानस्य
तादृशस्य अस्माभिरभ्युपगमात् [18] ।

अतः एकेश्वरवाद मानने के कारण शंकर मिश्र भी ब्रह्माद्वैतवाद को मानते हैं परन्तु उनके ब्रह्माद्वैतवाद में प्रपंच के मिथ्यात्व का सिद्धान्त या प्रपंच के ब्रह्मरूप होने का सिद्धान्त नहीं है । उनके इस अद्वैतवाद का न समझने के कारण प्रो० भट्टाचार्य ने कहा है कि शंकर मिश्र ने अन्ततोगत्वा श्रीहर्ष के अद्वैतवाद से समझौता कर लिया है । यदि उन्होंने समझौता कर लिया होता तो वे अभेद का खण्डन क्यों करते और अद्वैत-श्रुतियों की द्वैतवादी व्याख्या क्यों करते जो उन्होंने भेदप्रकाश में की है ? फिर वे ब्रह्मास्त्र के विरोध में भेदास्त्र का प्रयोग क्यों

करते ? अत: आनन्दवर्धन के बारे में उपर्युक्त द्वितीय मत समीचीन नहीं है ।

§4§ तृतीय मत का विवेचन

तृतीयमत के दो अर्थ हो सकते हैं । पहला अर्थ यह है कि खण्डनखण्डखाद्य अद्वैतवेदान्त का ग्रन्थ है और उसके अद्वैतवाद का पूर्ण खण्डन शांकर मिश्र ने किया है । इस अर्थ में कुछ बल है । परन्तु प्रश्न यह है कि क्या खण्डनखण्डखाद्य शुद्धरूप में अद्वैतवेदान्त का ग्रन्थ है ? यदि हाँ , तो उसका खण्डन शांकर मिश्र ,अभिनव वाचस्पति मिश्र तथा अन्य नैयायिकों ने अवश्य किया है । यदि वह शुद्ध रूप में अद्वैतवाद का ग्रन्थ न होकर वस्तुत: वितण्डा का ग्रन्थ है तो उसका खण्डन शांकर मिश्र आदि ने नहीं किया, क्योंकि उन्हें वितण्डावाद का प्रतिपादन वैसे ही इष्ट है जैसे श्रीहर्ष को । इस रूप में खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन हो भी नहीं सकता है और वह सचमुच सार्वपथीन है ।

परन्तु जो लोग मानते हैं कि आनन्दवर्धन में खण्डनखण्डखाद्य का कुछ खण्डन है वे खण्डनखण्डखाद्य को वितण्डा का ग्रन्थ नहीं मानते, अपितु वेदान्त का ग्रन्थ मानते हैं । आधुनिक युग में डा० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त ऐसे लोगों में मुख्य हैं और मध्ययुग में स्वामी विद्यारण्य और आनन्दपूर्ण विद्यासागर ऐसे लोंगों में मुख्य थे । परन्तु यदि इन लोंगों के मत को सहानुभूतिपूर्वक लिया जाय तो ज्ञात होगा कि श्रीहर्ष ने वितण्डा -पद्धति से अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है । इसके विपरीत हम यह कहना चाहते हैं कि शांकर मिश्र ने वितण्डा-पद्धति के

माध्यम से भेदभाव का प्रतिपादन किया है । अतएव पद्धति में समानता होते हुए भी श्रीहर्ष और शांकर मिश्र के मन्तव्यों में भेद है । इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि शांकर मिश्र ने श्रीहर्ष के मत का पूर्ण खण्डन किया है, जिसको सार्वभौम भट्टाचार्य और रघुनाथ विद्यालंकर ने स्पष्टत: स्वीकार किया है किन्तु इतना होने पर भी श्रीहर्ष ने जिस वितण्डा- पद्धति को जन्म दिया वह सार्वपथीन है और उसको शांकर मिश्र भी स्वीकार करते हैं । इससे सिद्ध होता है कि वास्तव में खण्डनखण्डखाद्य एक पद्धति -ग्रन्थ (a work on method) है (जिसमें किसी मत (creed) या वाद (doctrine) का प्रतिपादन नहीं है) अपितु आलोचना की एक पद्धति ,विधि, रीति ,प्रणाली या वाद-न्याय (dialectic) का प्रतिपादन है । संक्षेप में उसमें वाद- न्याय है, न कि कोई वाद ।

<u>पाद- टिप्पणी और सन्दर्भ</u>

1- वादिविनोद , संपादक गंगानाथ झा , उपोद्घात पृ0 9 ।

2- **History of Indian Philosophy , Vol II Dr. Umesh Mishra , P. 327 .**

3- देखिए ,हनुमान प्रसाद शास्त्री - कृत खण्डनखण्डखाद्य के हिन्दी अनुवाद में उनकी प्रस्तावना - पृ0 36 ।

4- **History of Navya - Nyaya in Mithila, D.C. Bhattacharya, P. 137 1**

5- ऊपर उद्धृत ग्रन्थ , डा0 उमेश मिश्र पृ0 326 ।

6- **The Cultural Heritage of India Vol.III, P. 580 .**

7- **The Cultural Heritage of India , Vol V , P. 379 .**

8- वादिविनोद, उपोदघात , पृ0 9 ।

9- खण्डनखण्डखाद्य के प्रथम अध्याय का तीसरा श्लोक ।

10- देखिए , वादिविनोद पृ0 9 ।

11- खण्डनखण्डखाद्य , पाँच टीकाओं सहित, संपादक सूर्य नारायण शुक्ल चौखम्भा वाराणसी ,खण्डनभूषामणि , पृ0 187 में उद्धृत ।

12- It has been felt that this sweeping assertion has included Brahma also,- that along with all things of the Universe , Ishvara , Māyā , even Brahma Himself are undefinable, hence Brahma also cannot have real existence.
SHĀNKARA VEDANTA , by G.N.Jha , Allahabad , 1940
P. 208 .

13- खण्डनखण्डखाद्य , विद्यासागरी सहित, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान , वाराणसी ,1979 , पृ0 122 ।

14- देखिए खण्डनखण्डखाद्य का हिन्दी अनुवाद, स्वामी योगीन्द्रानन्द , परिचय , पृ0 6 ।

15- देखिए , दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य , ऊपर उद्धृत ग्रन्थ , पृ0 138 ।

16- वहीं पृ0 139 ।

17- वही पृ0 139 ।

18- खण्डनखण्डखाद्य , शांकरी सहित , संपादक हनुमानदास षट्शास्त्री पृ0 67 ।

षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्याय

भेद की स्थापना

[1] प्रत्येक ज्ञान की प्रागपेक्षा के रूप में भेद

शंकर मिश्र कट्टर भेदवादी हैं। वे कहते हैं - "भेद प्रत्येक ज्ञान में व्याप्त रहता है। भेद के बिना कोई ज्ञान नहीं हो सकता।"

न सा धी: क्वचिदप्यस्ति यत्र भेदो न भासते
अतएव न तन्मानं यन्न भेद प्रमापकम् [1]।।

द्रव्य, गुण, सम्बन्ध, कर्म सभी पदार्थ भेद के अविनाभूत हैं[2]। बिना भेद के उनकी उपपत्ति या प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए सभी ज्ञान को भेदमूलक कहा गया है। अतएव प्रत्येक प्रमाण भेद को सिद्ध करता है।

जो लोग यह कहते हैं कि भेद को अनुमान से सिद्ध नहीं किया जा सकता उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि भेद की बाधक - युक्ति का अभाव है। देखिए, क्या भेद का अनुभव नहीं होता है? या होता है तो क्या वह यथार्थ नहीं है? यहाँ पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि घट पट से भिन्न है, ऐसा भेद अनुभव से सिद्ध है। फिर दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि अयथार्थता विषयबाधक-गम्यता है, और बाधक विपरीत प्रमा है। प्रस्तुत उदाहरण में घट पट नहीं है, इस प्रत्यक्ष के

बाद घट पट है ऐसा विपरीत प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए घट पट नहीं है, इस प्रमा का कोई बाधक ज्ञान नहीं है।

पुनश्च प्रश्न है कि भेद अभिन्न में होता है या भिन्न में ? यदि वह अभिन्न में है तो विरोध है क्योंकि अभिन्न [विषय] भिन्न नहीं होता है। फिर यदि वह भिन्न में है तो आत्माश्रय दोष है क्योंकि वह भिन्न भी स्वयं भेद में रहेगा। यदि आत्माश्रय को बचाने के लिए कहा जाय कि भेद अपने से भिन्न किसी अन्य विषय में रहता है तो अनवस्था दोष होगा। इस प्रकार भेद का कोई अधिष्ठान सिद्ध नहीं होता है। अतएव भेद असिद्ध है।

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए शंकर मिश्र कहते हैं कि यहां भेद का क्या अर्थ है? और भेद है, इस वाक्य में "है" का अर्थ संयोग है या समवाय। चूँकि अभाव के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं होते इसलिए उक्त प्रश्न में भेद का अर्थ अन्योन्याभाव नहीं है। फिर यदि भेद का अर्थ स्वरूप भेद है तो फिर वह घट में भासित होता है क्योंकि घट की उत्पत्ति के समय ही स्वरूपभेद से उसका सम्बन्ध हो जाता है। अथवा उस भेद से भिन्न जो घट है उसी में भेद भी रहता है। यहां आत्माश्रय-दोष नहीं होगा क्योंकि भेद अपने विषय का बोध कराते हुए स्वयं अपना भी बोध कराता है। फिर भेद अभिन्न में रहता है, यह भी कहा जा सकता है, क्योंकि घट अपने से अभिन्न नहीं है, ऐसी बात नहीं है। अतः भेद कहां है? इस प्रश्न का उत्तर है कि भेद वहीं है जहां वह प्रतीत

होता है, वहीं वह होता है।[2] इस प्रकार शंकर मिश्र कहते हैं कि भेद अखण्डनीय है। जैसे-जैसे उसका खण्डन किया जाता है, वैसे-वैसे वह धृष्ट बालक की तरह सामने विराजमान हो जाता है - यथा यथा तव भेद निरासायप्रयत्नस्तथा तथा धृष्ट बालक इव पुरोवर्ती भेद इव।[3] इस प्रकार निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त श्रीहर्ष के विचार को शंकर मिश्र मनोरथ मात्र कहते हैं -

अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखक्षमा
तथा चाये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवै शशात् ।।[4]

श्रीहर्ष के अनुसार अभाव प्रतियोगिसापेक्ष होता है। अभेद का उल्लेख हो जाने पर ही भेद का अनुभव होता है अन्यथा नहीं, क्योंकि अभेद भेद-रूपी अभावका प्रतियोगी है। प्रतियोगी का प्रवेश अनुयोगी के स्वरूप में होता है और इससे प्रतियोगी और अनुयोगी का अभेद स्थिर हो जाता है। इसलिए अभेद का उल्लेख न होने पर भेद का उल्लेख नहीं होता है। किन्तु अभेद की इस धारणा को शंकर मिश्र ने क्षोदक्षम नहीं माना है। उन्होंने उल्टे अभेद को ही भेदमूलक दिखलाया है। वे कहते हैं कि अभेद का प्रत्यय अनिवार्यतः भेद-विषयता से नियत है।

अभेद प्रत्ययश्च भेदविषयतानैयतात् [5]। अभेद के ज्ञान में भेद का ज्ञान आवश्यक है और भेद के ज्ञान में अभेद का ज्ञान आवश्यक नहीं है। अतएव भेद अनिवार्य है।

(2) भेद की पारमार्थिकता

शंकरमिश्र की उपर्युक्त आलोचना का उत्तर अद्वैतवेदान्ती यह कहकर दे सकते हैं कि वे व्यावहारिक भेद को स्वीकार करते हैं तथा मिथ्या और सत्य के भेद को भी मानते हैं। परन्तु शंकर मिश्र यहां प्रश्न करते हैं कि व्यावहारिकत्व क्या है ? इस प्रश्न पर अद्वैतवेदान्ती स्पष्ट नहीं है। कभी वे व्यावहारिक का अर्थ बाध्यत्व करते हैं तो कभी असत्यत्व, असत्व, दृश्यत्व, अलीकत्व, अविद्याविषयत्व, अविद्यादशावेद्यत्व, जड़त्व, ब्रह्मभिन्नत्व, अवेद्यत्व और अप्रामाणिकत्व। यदि इन सभी अर्थों पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि अद्वैतवेदान्त ने व्यावहारिकत्व की जो अवधारणा की है उसमें बड़ा घपला है। शंकर मिश्र व्यावहारिकत्व की इन सभी परिभाषाओं का खण्डन करके सिद्ध करते हैं कि अद्वैतवेदान्ती के द्वारा किया गया व्यावहारिकत्व का संप्रत्यय दोषपूर्ण है।

परन्तु शंकर मिश्र उसके खण्डन में सबसे प्रबल प्रमाण यह देते हैं कि व्यावहारिकत्व के कारण ही प्रपंच पारमार्थिक है। उनका तर्क निम्नलिखित है -

भेद पारमार्थिक है

क्योंकि वह व्यावहारिक है।

जो पारमार्थिक नहीं है वह व्यावहारिक नहीं है जैसे ब्रह्माद्वैत।

यह व्यावहारिक नहीं है, ऐसी बात नहीं है।

अतः भेद पारमार्थिक है।[6]

इस प्रकार व्यतिरेकी अनुमान द्वारा भेद का पारमार्थिकत्व सिद्ध होता है।

अत: शंकर मिश्र भेद को पारमार्थिक मानते हैं। वे कहते हैं कि अद्वैतवेदान्ती जब प्रपंच को अपारमार्थिक कहते हैं तब वे पारमार्थिकत्व और अपारमार्थिकत्व का भेद करते हैं या नहीं ? यदि करते हैं तो भेद सिद्ध है औरयदि भेद नहीं करते तो फिर पारमार्थिकत्व और अपारमार्थिकत्व परस्पर परिवर्तनीय हो जायेंगे, और प्रपंच पारमार्थिक हो जायेगा। इस प्रकार ये दोनों अनिष्ट प्रसंग आ जायगें। पुनश्च यदि कहा जाय कि पारमार्थिकत्व और अपारमार्थिकत्व में व्यावहारिक भेद है तो प्रपंच को अपारमार्थिक कहना और ब्रह्म को पारमार्थिक कहना व्यर्थ है, क्योंकि व्यावहारिक भेद और पारमार्थिकत्व को भिन्न नहीं किया जा सकता।[7]

पुनश्च भेद को पारमार्थिक सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित दो और अनुमान शंकर मिश्र ने दिये हैं -

(i) भेद पारमार्थिक है।

क्योंकि वह वेद्य है।

जो जो वेद्य है वह वह पारमार्थिक है जैसे ब्रह्म।

यह ऐसा ही है।

अत: भेद पारमार्थिक है।[8]

§ii§ भेद प्रमा - विषय है

क्योंकि वह ज्ञान का विषय है

जो ऐसा है वह वैसा है अर्थात् जो प्रमा - विषय -

है वह ज्ञान - विषय है, जैसे ब्रह्म।

ऐसा ही यह भेद है

इसलिए यह भेद प्रमा - विषय अर्थात् प्रामाणिक है।[9]

इस प्रकार शंकर मिश्र ने भेद को पारमार्थिक सिद्ध किया है। इसको पारमार्थिक सिद्ध करने से प्रपंच की सत्यता का सिद्धान्त भी प्रमाण-सिद्ध हो जाता है। इसलिए भेद को पारमार्थिक सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियां भी दी जाती हैं -

§iii§ प्रपंच सत्य है।

क्योंकि वह दृश्य है।

जो सत्य नहीं है वह दृश्य नहीं है, जैसे ब्रह्माद्वैत।

यह दृश्य नहीं है, ऐसी बात नहीं है।

इसलिए यह सत्य है।[10]

§iV§ प्रपंच पारमार्थिक है।

क्योंकि वह अभिधेय है।

जो-जो अभिधेय है सो-सो पारमार्थिक है, जैसे ब्रह्म।

यह प्रपंच वैसा ही है।

इसलिए यह प्रपंच पारमार्थिक है।[11]

(v) भेद-ज्ञान सद्-विषयक है,

क्योंकि वह ज्ञान है।

जो-जो ज्ञान है सो-सो सद्-विषयक है जैसे ब्रह्मज्ञान।

यह वैसा ही है।

इसलिए यह सद्-विषयक है।[12]

वास्तव में जब तक आत्मा को अनात्मा से भिन्न न किया जाय तब तक आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्येक आत्मा में अन्य आत्मा से भिन्न होने का गुण है। यह भेद आत्मा में आजानिक है। इसलिए भेद आत्मा में ही निहित है।

आत्मन्याजानिकं भेदमजानाना मुमुक्षव:

माभूवन्निष्फलायासा इति भेद: प्रकाशित: ।।[13]

अर्थात् मुमुक्षुगण आत्मा के आजानिक भेद को न जानते हुए निष्फल प्रयत्न न करें, इसलिए यहां भेद को प्रकाशित किया जाता है। अतएव भेद-ज्ञान प्रमाणिक है और उसका खण्डन नहीं किया जा सकता है। शंकर मिश्र कहते हैं कि यदि निषेध अर्थात् जगत् का निषेध या नानात्व का निषेध प्रमाणिक है तो भेद प्रमाणिक है और यदि भेद का निषेध नहीं है तो भेद प्रमाणिक है। इस प्रकार भेद उभयथा प्रमाणिक है, वह अखंडनीय है।

प्रमाणिको निषेधश्चेत् भेदः प्रमाणिकस्तदा
निषेधश्चेन्न भेदस्य भेदः प्रमाणिकस्तदा [14]।।

(3) अद्वैतवाद का तात्पर्य

वास्तव में शंकर मिश्र ब्रह्माद्वैतवाद को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि अद्वैतवेदान्तियों औरउनमें ब्रह्माद्वैतवाद पर विवाद नहीं है। ब्रह्म का ज्ञान श्रुति से होता है इस पर भी विवाद नहीं है -

ब्रह्मैवाद्वैतमितिचेत् न विवादस्तदाऽऽवयोः ।
ब्रह्मणः श्रुतिवेद्यत्वं न केनाभ्युपगम्यते ।। [15]

परन्तु उनका मतभेद इस अद्वैतवाद के तात्पर्य के ऊपर है। अद्वैतवादी कहते हैं कि अद्वैतवाद के सिद्ध हो जाने पर द्वैत की सिद्धि नहीं होती। परन्तु शंकर मिश्र का कहना है कि यदि अद्वैत की सिद्धि सत्य है तो उसी से द्वैत भी सिद्ध होता है क्योंकि नञर्थ वैधर्म्य - भेदमूलक याअन्योन्या-भावात्मक भेदमूलक होता है। इस कारण अद्वैत से ही भेदसिद्ध होता है।[16] पुनश्च यदि अद्वैत कोई धर्म है और वह ब्रह्म में है तो द्वैत सिद्ध है और यदि अद्वैत ब्रह्म में नहीं है अपितु अन्यत्र है तो द्वैत कैमुतिक न्याय से और भी अधिक सिद्ध है।

अद्वैतं कोऽपि धर्मश्चेत् ब्रह्मण्यस्तीतिमन्यसे
तर्हि द्वैतं समायातं न चेद् द्वैतं निरंकुशम् ।[17]

शंकर मिश्र की इन युक्तियों का खण्डन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतरत्नरक्षण में भेदवाद के प्रतिपक्ष में अभेदवाद को स्थापित किया है। उनका कहना है कि अद्वैतसिद्धि का तात्पर्य द्वैत का निषेध है। यदि भेद का निषेध प्रमाणिक है तो भेद असिद्ध है। और यदि भेद का निषेध नहीं होता तो श्रुति-भंग होता है। फिर आत्मा का अभेदत्व स्वत:सिद्ध है। इसलिए अद्वैत स्वप्रकाश का लक्षण है। उसको श्रुति या किसी अन्य प्रमाण से भी सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह स्वत:सिद्ध है।[18]

शंकर मिश्र की भेद-युक्ति का खण्डन नृसिंहाश्रम ने भी भेद-धिक्कार में किया है। उनका कहना है कि ब्रह्म नित्य ज्ञान है और उससे अवच्छिन्न भेद प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वह अनुमान का भी विषय नहीं है। श्रुति 'नेहनानास्ति किंचन' आदि कथनों द्वारा भेद का निषेध करती है। अन्त में नृसिंहाश्रम ने स्वप्रकाश के अवेद्यत्व का तथा अविषयत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि वह स्वत: सिद्ध और स्वव्यवहार-हेतु है। अत: स्वप्रकाश की अवधारणा में भेद-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

नृसिंहाश्रम के खण्डन का निराकरण नैयायिक विश्वनाथ पंचानन ने भेदसिद्धि में किया है।[19] उन्होंने प्राय: उन्हीं युक्तियों का उपयोग किया है जिन्हें शंकर मिश्र ने भेदरत्न में दिया है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि नैयायिक अद्वैत-श्रुतियों का तात्पर्य उपासना में

लगाते हैं। पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य ने इसीलिए द्वैताक्तिरत्नमाला में कहा है -

अद्वैतोपासनाभ्यासाद्रागद्वेषक्षयः ।
तदर्थं क्वचिदुद्दिष्टमतथ्यमपि तथ्यवत् ।।[20]

अद्वैत-उपासना के अभ्यास से रागद्वेष का क्षय होता है। इस उद्देश्य से इसीलिए कहीं-कहीं अतथ्य का भी वर्णन श्रुतियों में तथ्यवत् कर दिया गया है। अर्थात् असत् का जो वर्णन श्रुतियों में है अथवा द्वैत का जो निषेध वर्णित है वह सब अतथ्य होते हुए भी रागद्वेष के क्षय में उपयोगी है और उपासना का विषय है। "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः," (किसी शब्दका वही अर्थ होता है जो उसका वास्तविक तात्पर्य या उद्दिष्ट प्रयोजन है।) इस न्याय से उसका महत्व अक्षुण्ण है। इस प्रकार शंकर मिश्र से लेकर आज तक नैयायिकगण अद्वैत-श्रुति का उपयोग अपने भेदवाद या द्वैतवाद में करते हैं। उनके मत से अद्वैतपरक श्रुतियां उपासना-परक है।

यदि आत्मा, ब्रह्म या स्वप्रकाश ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ अन्य है वह सब प्रातिभासिक है तो भी भेदसिद्ध होता है। क्योंकि भेद-वादियों का कहना है कि भेदवाद का तात्पर्य अन्य के अस्तित्व को सिद्ध करना नहीं है अपितु जो कुछ अन्य है, चाहे वह प्रातिभासिक हो याव्यावहारिक, उससे स्वप्रकाश ज्ञान को भिन्न करना है। इसीलिए अन्य का खण्डन करने पर भी भेदसिद्ध होता है - अन्य खण्डनेऽपि भेदो न खण्डित इत्यर्थः।[21] वास्तव में स्वप्रकाश तादात्म्य-स्वरूप है।

अधिष्ठान तथा अध्यस्त विषय के तादात्म्य को स्वीकार करते हुए भी अद्वैतवादी अध्यस्त विषय के अस्तित्व को अधिष्ठान के बिना संभव नहीं मानते हैं। यहां अद्वैतवादी अधिष्ठान - स्वरूप को अन्ततोगत्वा अध्यस्त विषय से असंस्पृष्ट भी मानते हैं। इस प्रकार भेद और अभेद के वास्तविक विवाद को तादात्म्य के सिद्धान्त से निपटाने की चेष्टा की गई है। तादात्म्य अभेद नहीं है, फिर भी वह भेद का निषेध है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं - न च अभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधामः[22], अर्थात् हम अभेद को सिद्ध नहीं करते किन्तु भेद का खण्डन करते हैं। परन्तु यहां वाचस्पति मिश्र का तात्पर्य वास्तव में भेद से नहीं किन्तु अन्य से है। नैयायिकों ने अन्य का खण्डन करते हुए भेद का प्रतिपादन किया है। उनका भेद ज्ञानगत या आत्मगत है। उसे किसी प्रकार का सत् नहीं कहा जा सकता। वह ज्ञानगत है, न कि वस्तुगत।

भेद और अभेद दोनों स्वप्रकाश ज्ञान के स्वरूप में निहित हैं। इसलिए वैष्णव वेदान्तियों ने स्वप्रकाश ज्ञान को भेदाभेद कहा है। परन्तु अद्वैतवेदान्ती और नैयायिक दोनों ही भेदाभेदवाद का खण्डन करते हैं क्योंकि भेद और अभेद का सहअस्तित्व व्याघातक होने के कारण असंभव है। ऐसी परिस्थिति में भेद या अभेद की अन्यतर दृष्टि को अंगीकार करना न्यायसंगत है। किन्तु दोनों में से एक के पक्ष में किसी निर्णायक युक्ति को प्राप्त करना दुष्कर है। भेदवादी और अभेदवादी दोनों ही अपने-अपने ढंग से शास्त्रीय वचनों की व्याख्या करते हैं। उदाहरण के

लिए, विष्णु पुराण के निम्नलिखित श्लोकों को लिया जा सकता है जिनका उद्धरण अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों में बहुत मिलता है -

विज्ञानं प्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव ।
प्रापणीयस्तथैवात्मा प्रक्षीणाशेषभावन: ।।
क्षेत्रज्ञ: करणीज्ञानं करणं तस्य तेन तत् ।
निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यो निवर्तते।।

तद्भावभावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना ।
भवत्यभेदी भेदस्य तस्याज्ञानकृतो भवेत् ।।
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गजे ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं क: करिष्यति[23]।।

अर्थात् "हे राजन् ! समाधि से होने वाला भगवत्साक्षात्कार-रूप विज्ञान ही प्राप्तव्य परब्रह्म तक पहुँचने वाला है तथा सम्पूर्ण भावनाओं से रहित एकमात्र आत्मा ही प्रापणीय {ब्रह्म} तक पहुँचा सकने वाला है। मुक्तिलाभ में क्षेत्रज्ञ कर्ता है और ज्ञान करण, {ज्ञानरूपी करण के द्वारा क्षेत्रज्ञ के} मुक्तिरूपी कार्य को सिद्ध करके वह विज्ञान कृतकृत्य होकर निवृत हो जाता है। उस समय वह भगवद्भावापन्न होकर परमात्मा से अभिन्न हो जाता है। इसलिए भेद-ज्ञान तो अज्ञान जनित ही है। अत: अज्ञान के सर्वथा नष्ट हो जाने पर ब्रह्म और आत्मा में भेद {जो सर्वथा असत् है} कौन कर सकता है?

यहाँ विवाद का विषय "आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति, यह पंक्ति है। ऊपर इसके अनुवाद में अद्वैतवादी या अभेदवादी व्याख्या दी गई है, परन्तु विश्वनाथ पंचानन ने भेद-सिद्धि में इसका अर्थ यह किया है कि उस भेद को [तम् भेदं] असत् कौन करेगा? अर्थात् वास्तविक भेद परमार्थतः सत्य है।[24] उपर्युक्त द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों व्याख्याओं का तुलनात्मक मूल्यांकन करने से निष्कर्षतः सिद्ध होता है कि अद्वैत अनुभव को अद्वैतवेदान्ती तथा नैयायिक दोनों स्वीकार करते हैं। किन्तु दोनों उस अनुभव की भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं। प्रत्येक व्याख्या पदार्थमूलक है और पदार्थ-कल्पना कुछ मान्यताओं पर निर्भर करती है। इस कारण अद्वैतवेदान्ती और नैयायिक, व्याख्याओं में अन्तर हो जाता है। हम इन दोनों व्याख्याओं में से किसी एक को वाद के रूप में स्वीकार कर सकते हैं और फिर उसके आधार पर दूसरी व्याख्या का प्रतिवाद कर सकते हैं। किन्तु यहाँ निर्णायक व्यक्तिगत रुचि है, न कि कोई तर्कसंगत प्रमाण।

[4] अद्वैत - श्रुतियों का तात्पर्य

शंकर मिश्र ने सभी अद्वैत-श्रुतियों या अभेद-श्रुतियों को भेदपरक सिद्ध किया है। इस विषय में उनकी निम्नलिखित युक्तियां है :-

[1] श्रुतियों में ब्रह्म को अस्थूल - अनणु, अह्रस्व, -अदीर्घ, अनन्तर अबाह्य इत्यादि कहा गया है। इसका अर्थ करते हुए शंकर मिश्र

कहते हैं कि इन श्रुतियों मे नञ् का अर्थ अन्योन्याभावात्मक या वैधर्म्यभेदात्मक है। स्थूल शरीर से जो भिन्न है वह अस्थूल ब्रह्म है, अणु मन से जो भिन्न है वह अनणु ब्रह्म है इत्यादि यहां नञ् का अर्थ है, जो सिद्ध करता है कि इन श्रुतियों द्वारा ब्रह्म को ब्रह्मेतर से भिन्न किया गया है। यदि कहा जाय कि अस्थूल इत्यादि का अर्थ स्थूलता का अत्यन्ताभाववान् इत्यादि है तो भी नञ का अर्थ वैधर्म्यभेद का प्रतिपादन है। यदि वैधर्म्य का अभिधान भेदज्ञानमूलक न हो तो वह व्यर्थ हो जायगा।[25]

{2} मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति, इस बृहदारण्यक श्रुति का अर्थ अद्वैतवेदान्ती अभेदमूलक करते हैं। परन्तु शंकर मिश्र कहते हैं कि यह श्रुति भी भेद में प्रमाण है। क्योंकि वह पुरूष मृत्यु {संसार} से मृत्यु {संसार} को पुनः पुनः जाता है जो यहां नानात्व की भांति देखता है। यहां नानाइव कहा गया है, "नाना" नहीं कहा गया है। "इव" पद के निवेश से सिद्ध है कि यहां भेद इष्ट है। [26]

{3} सलिलएकोदृष्टाअद्वैतो भवति - यह श्रुति भी शंकर मिश्र के अनुसार भेदपरक है क्योंकि यहां "किल" {निश्चय} का तात्पर्य है कि अन्य द्रष्टा क्षेत्रज्ञ भी है जो भेदवान् है।[26]

{4} तत् त्वम् असि - इस महावाक्य का अर्थ भी शंकर मिश्र भेदमूलक

करते हैं क्योंकि त्वम् शब्द का अर्थ अपने से भिन्न सम्बोध्य व्यक्ति है।[28]

§5§ "न तु तद्द्वितीयम् अस्ति" इस श्रुति का तात्पर्य भी भेद है, क्योंकि इसका अर्थ है तद् ब्रह्म द्वितीयं नास्ति अर्थात् ब्रह्म में धर्मित्व का निषेध किया गया है। यदि धर्मित्व न हो तो इसका निषेध कैसे होगा?[29]

§6§ इसी प्रकार एकम् एवाद्वितीयं ब्रह्म्, इस छान्दोग्य उपनिषद् श्रुति का भी अर्थ है कि ब्रह्म के अतिरिक्त नाना प्रकार की स्वीकृति है और ब्रह्म में ब्रह्म के प्रतियोगी का निषेध किया गया है। भूमण्डले एक एव नरपतिः §जगत् में एक ही राजा है§ जैसे यह वाक्य अन्य राजाओं का निर्देश करते हुए किसी विशेष राजा को उनसे श्रेष्ठ बताता है वैसे ही एकं एवं अद्वितीयं ब्रह्म, यह वाक्य भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का निर्देश करता हुआ ब्रह्म् की महत्ता उनसे अधिक बताता है।[30] अर्थात् सामान्य भाषा के नियमों के अनुसार ये दोनों वाक्य भेदमूलक ही हैं।

§7§ श्रुतियों के द्वारा जिस अद्वैत का प्रतिपादन किया जाता है वह घटादिनिष्ठ § Phenomenal § है या ब्रह्मनिष्ठ § Noumenal § या उभयनिष्ठ ? यदि वह घटादिनिष्ठ है तो फिर प्रश्न है कि वह भेदविरोधी है या नहीं? दोनों दशा में भेद की सिद्धि होती है क्योंकि पहले भेद का निरूपण किया जाता है और बाद में श्रुतिगम्य अद्वैत से उसका विरोध दिखाया

जाता है। पुनश्च यदि वह ब्रह्मनिष्ठ अद्वैत कोई धर्मान्तर है तो भी वह भेदविरोधी नहीं है और भेदसिद्ध है। अन्त में, यदि वह अद्वैत ब्रह्म और प्रपंच उभयनिष्ठ अद्वैत नामक कोई धर्म है जिसका प्रतिपादन श्रुतियों में किया गया है तो भी भेद का विरोध करने पर भेद की सिद्धि हो जाती है और भेद का न विरोध करने पर भी भेद की सिद्धि हो जाती है।[31]

(4) यदि कहा जाय कि श्रुति-प्रतिपादित अद्वैत ब्रह्मस्वरूप है तो फिर हम दोनों (नैयायिक और अद्वैतवेदान्ती) के बीच में कोई विवाद नहीं रह जाता, क्योंकि श्रुति के द्वारा भेद का प्रत्याख्यान नहीं होता है। कारण, अद्वैत का अर्थ ही अन्योन्याभाव या वैधर्म्य है। यदि पुनः कहा जाय कि हम अद्वैत का प्रतिपादन नहीं करते अपितु द्वैत का निषेध करते हैं तो प्रश्न उठता है कि द्वैत निषेध ब्रह्म-भिन्न है या नहीं? यदि वह ब्रह्म-भिन्न है तो द्वैत सिद्ध है; और यदि वह ब्रह्म-भिन्न नहीं है तो द्वैत का निषेध कहाँ हुआ।[32]

उपर्युक्त सभी युक्तियों से शंकर मिश्र ने सिद्ध किया है कि अद्वैत श्रुतियों में भेद-तत्त्व की स्वीकृति निहित है, यद्यपि आपाततः उनसे भेद या द्वैत स्पष्ट नहीं होता है।

(5) द्वैत - श्रुतियों का प्राबल्य

अद्वैत श्रुतियों को द्वैतमूलक सिद्ध करने के अनन्तर शंकर मिश्र उन श्रुतियों को प्रस्तुत करते हैं जो स्पष्ट रूप से भेद का उद्घोष करती हैं। इन श्रुतियों में निम्नलिखित उल्लेख योग्य हैं -

(1) "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परंचापरमेव च" यह श्रुति स्पष्ट रूप से भेद का वर्णन कर रही है।

(2) द्वा सुपर्णा सुयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीत ।।

यह श्रुति भी साक्षात् भेद का कथन कर रही है।

(3) श्रुतियों में कहीं-कहीं प्रकृति - अर्थ से दो या बहुत की सिद्धि होती है। कहीं प्रत्ययार्थ से और कहीं अविनाभाव - सम्बन्ध से। जैसे "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इस श्रुति में सहस्र पद है जो प्रकृति है। इससे बहुत्व सिद्ध है। "विश्वेदेवा आगच्छत" इस श्रुति में आगच्छत क्रिया-पद में बहुवचनान्त प्रत्यय है जिससे बहुत्व सिद्ध है। तद् विष्णोः परमं पदम्, यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, इत्यादि श्रुति में अविनाभाव - सम्बन्ध से भेद-सिद्ध होता है। विशेषरूप से सारे विधिवाक्यों (विधि-श्रुतियों) का अर्थ अविनाभावरूपी कार्यकारण संबन्ध के आधार पर भेद ही सिद्ध होता है।

इसी प्रकार अर्थवाद, परिकृत, पुराकल्प इत्यादि वाक्यों का अर्थ भी अविनाभाव से भेदमूलक है।

(4) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, इस श्रुति में चार विधियां हैं, जो भेद के बिना असंभव है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्रतिपत्तियां यदि परस्पर भिन्न नहीं हैं तो फिर उनका पृथक्-पृथक् अभिधान क्यों किया गया ? यदि उनमें भेद न होता तो केवल श्रोतव्यः इतना ही कहने से काम चल जाता । अतएव स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग का निरूपण करने वाली यह श्रुति भी भेदमूलक है। निष्कर्षतः कोई ऐसी श्रुति नहीं है जो शब्दबल से अर्थात् शब्द-शक्ति से या अर्थबल से अर्थात् अर्थ करने पर भेदमूलक न सिद्ध हो। तथा च न श्रुतिर्यत्र शब्दबलादर्थबलाद्वा भेदो न भासते।[33]

(6) भेद के प्रकार

खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष ने चतुर्विध भेद का खण्डन किया है। भेद के ये चार प्रकार निम्नलिखित हैं -

(1) स्वरूपभेद (2) अन्योन्याभाव (3) वैधर्म्य और (4) पृथक्त्व। आनन्दपूर्ण विद्यासागर [34] के अनुसार प्राभाकर मीमांसक, एक देशीय नैयायिक, एकदेशीय भाट्टमीमांसक तथा वैशेषिक उपर्युक्त भेदों में से क्रमशः

एक-एक को मानते हैं अर्थात् प्रभाकर मीमांसक के अनुसार भेद स्वरूपभेद हैं। एकदेशीय नैयायिक के अनुसार भेद अन्योन्याभाव है। एकदेशीय भाट्टमीमांसक के अनुसार भेद वैधर्म्य है और वैशेषिक के अनुसार भेद पृथकत्व नामक गुण है। साधु मोहनलाल ने खण्डनगर्तप्रदर्शनी में भेद के चारों रूपों को निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त किया है -

स्वरूपान्योन्यवैधर्म्यपृथकत्तवेति चतुर्विधो।
भेदो न घटतेऽद्वैते वदत्येतु साम्प्रतम्।।[35]

भेदरत्न में शंकर मिश्र ने चतुर्विध भेद का प्रतिपादन किया है। इनमें भी विशेषरूप से उन्होंने स्वरूपभेद अन्योन्याभाव और वैधर्म्यभेद का निरूपण किया है। पृथकत्व का निरूपण वैशेषिकसूत्रोपस्कार में किया गया है और भेदरत्न में उसका उल्लेख कम है। परन्तु स्वरूपभेद, अन्योन्याभाव और वैधर्म्य को सिद्ध करने का प्रयास शंकर मिश्र ने विशेष रूप से किया है। कभी वे स्वरूपभेद के अस्त्र से अभेद का खण्डन करते हैं और कभी अन्योन्याभाव के अस्त्र से। इन दो अस्त्रों का प्रयोग उन्होंने विशेषरूप से किया है। वे कहते हैं कि अन्योन्याभाव का मेरा अस्त्र थोड़ा विश्राम करे और अब मैं स्वरूपभेदरूपी अस्त्र से युद्ध करूँगा।[36] इससे स्पष्ट है कि उनके खण्डन कीप्रक्रिया में अन्योन्याभाव और स्वरूपभेद की प्रमुख भूमिका है।

(1) स्वरूपभेद/स्वस्वत्वं च स्वनिष्ठं -

- धर्मात्यन्ताभावसमानाधिकरणं धर्मत्वमेव।[37]

स्वरूपभेद स्वनिष्ठ धर्म के अत्यन्ताभाव के असमानाधिकरण का धर्म है। अत्यन्ताभाव पद का अर्थ प्रतियोगी के असमानाधिकरण का अत्यन्ताभाव है। अभाव किसी प्रत्यासत्ति [विषय -सानिध्य] के द्वारा प्रत्येक वस्तु में विद्यमान् रहता है। वही स्वरूपशब्द का वाच्य है। इसके कारण प्रत्येक वस्तु में एक विशिष्टता रहती है जिससे स्वरूपसम्बन्ध सिद्ध होता है। "घट", ऐसा कहने से घट के स्वरूप को सिद्ध करने वाले जितनी विशिष्टताएं रहती हैं वे सब स्वरूपभेद के अन्तर्गत हैं। यही धर्म घट स्वरूप का भेदकत्व है उससे अवच्छिन्न होने के कारण ही घट का ज्ञान होता है। सारांश यह है कि जब हम कहते हैं कि यह घट है तो यहाँ घट के स्वरूप को परिच्छिन्न करने वाला कोई व्यवच्छेदक है जिसे स्वरूपभेद कहा जाता है। यदि हम पाश्चात्य परिभाषा-रीति से इसकी तुलना करें तो इसे हम जाति-व्यवच्छेदक परिभाषा का व्यवच्छेदक [Differentium] कह सकते हैं। वही स्वरूपभेद है। तात्पर्य यह है कि जब तक कोई विषय स्वरूपभेदवान् नहीं होता तब तक उसका ज्ञान नहीं हो सकता। उसके ज्ञान का ही तात्पर्य है कि उसमें स्वरूपभेद है।

[2] अन्योन्याभाव/ अन्योन्याभाव भी एक भेद है। जैसे घट और पट का भेद। घट में पट का अभाव है और पट में घट का अभाव है।

अतद्व्यावृत्ति या अन्यापोह वास्तव में अन्योन्याभाव ही है। शंकर मिश्र कहते हैं जहाँ नञ् का प्रयोग होता है वहाँ अन्योन्याभाव या वैधर्म्यभेद होता है।[38]

(3) वैधर्म्यभेद/वैधर्म्य साधर्म्य का विरोधी है। इसका सीधा अर्थ असमानता है। अन्योन्याभाव की प्रतिपत्ति में वैधर्म्य उपजीव्य है अर्थात् वैधर्म्य भेद अन्योन्याभाव की प्राग्पेक्षा है। जब घट और पट में अन्योन्याभाव होता है तो वास्तव में घटत्व के आश्रय और पटत्व के आश्रय (अधिष्ठान) में वैधर्म्य होता है। इसलिए वैधर्म्य सिद्ध है।

(4) पृथक्त्व / पृथक्त्व वैशेषिक दर्शन में गुण माना गया है। शंकर मिश्र वैशेषिक पदार्थमीमांसा में प्रतिपन्न हैं। अतएव वे पृथक्त्व रूप भेद को मानते हुए भी वास्तव में मुख्य रूप से स्वरूपभेद, वैधर्म्यभेद और अन्योन्याभावभेद को मानते हैं जो वास्तव में पदार्थों का भेद है। गुण सप्त पदार्थों में एक पदार्थ है। इसलिए जब समस्तगुणों के भेद का प्रसंग उठता है तो वहाँ भेद का तात्पर्य पृथक्त्व नहीं है। उदाहरण के लिए गुण और द्रव्य का जो भेद है वह वैधर्म्यभेद या अन्योन्याभाव भेद के द्वारा समझा जासकता है। इनके स्थान पर हम पृथक्त्व का प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि पृथक्त्व एक गुण है। इससे स्पष्ट है कि शंकर मिश्र ने भेद का जो निरूपण किया है उसमें भेद की गहनमीमांसा है। कम से कम वह पृथक्त्व से अधिक गहरा भेद है।

(7) भेद-ज्ञान का उपयोग

भेद-ज्ञान का उपयोग प्रत्येक विषय के ज्ञान में है। इस कारण ज्ञान-मीमांसा में भेद का महत्व मूलगामी है। इसे शंकर मिश्र ने भेद को सिद्ध करते समय भेदरत्न में यत्र-तत्र कहा है। परन्तु उन्होंने जिन भेदों का निर्धारण किया है, उनके मत से उनका ज्ञान प्राप्त किये बिना किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता है। इसलिए शंकर मिश्र के अनुसार भेद-ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी है। वे कहते हैं -

देहादेस्तात्त्विकाद् भेदं सत्यमात्मन्य जानताम् ।
मुमुक्षूणां न मोक्षोऽस्तीत्यतो भेदो निरूप्यते ।।

अन्त में, वे अद्वैतवेदान्तियों से प्रत्यक्षसिद्ध और अनुमानसिद्ध भेद को स्वीकार करने के लिए एक मार्मिक अभ्यर्थना करते हैं :-

मोक्षाय स्पृहयालव: श्रुतिगिरां श्रद्धालवोऽर्थे ऋजौ ।
तर्कोदर्कविभावनासु सुचरां व्याजेन निद्रालव: ।
भेदे दृक्पथमागतेऽपि सहसा तन्द्रालवश्छान्दसा:
कैवल्यात् पतयालव: शृणुत सद्युक्तं दयालोर्मम् [39] ।।

अर्थात् हे दयालु अद्वैतवेदान्ती! आप मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं, श्रुति-वाक्यों में श्रद्धा करने वाले हैं किन्तु आप श्रुति का ऋजु

अर्थ ही लेते हैं, उसके लाक्षणिक अर्थ या टेढ़े अर्थ नहीं समझ पाते। तर्क के निष्कर्ष की गवेषणा करने में बहानेबाजी दिखाते हुए निद्रालु हो जाते हैं; अर्थात् आंख मूंद लेते हैं और प्रत्यक्षसिद्ध भेद भी नहीं देखते हैं। आप वैदिक तो हैं किन्तु आलस्य करते हैं और श्रम नहीं करते, इस कारण कैवल्य से वंचित रह जाते हैं। कृपया ~~करें~~ आप मेरी सद्युक्तियों को सुनें, भेद को स्वीकार करें और तत्कालस्वरूप मोक्ष ~~लाभ~~ करें।

शंकर मिश्र को मधुसूदन सरस्वती ने प्रायः उन्हीं के शब्दों में थोड़ा हेर-फेर करते हुए निम्नलिखित उत्तर दिया है -

मोक्षाय स्पृहालवः श्रुतिगिरां श्रद्धालवोऽर्थेऽनृजौ वेदान्तार्थविभावनासु
सुतरां व्याजेन निद्रालवः।
भेदे खण्डनखण्डितेऽपि शतधा तन्द्रालवस्तार्किकाः
कैवल्यात्पतयालवः श्रृणुत सद्युक्तं दयालोर्मम ।।[40]

किन्तु दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार शंकर मिश्र के तर्कों का उत्तर देते समय मधुसूदन सरस्वती अत्यन्त कटु हो गए हैं। उन्होंने शंकर मिश्र के लिए वृद्धोक्ष (बूढ़ा बैल) और शैलसारे हृदय (पाषाण हृदय) शब्दों तक का प्रयोग किया है जो उन जैसे महान् संन्यासी के लिए शोभा नहीं देता।[41]

शंकर मिश्र की युक्तियां वैध हैं और उनका हृदय सरस है। कम से कम स्वरूपभेद के अस्त्र से उन्होंने अद्वैतवेदान्त पर जो प्रहार किया

है वह अद्वैतवेदान्तियों के ब्रह्मास्त्र से छिन्न नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं ब्रह्म ही स्वरूपभेदवान् है, अभिधेय होने के कारण) उनकी इस युक्ति को द्वैतवादी माध्ववेदान्ती तथा विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज वेदान्तियों ने स्वीकार किया है और इसके माध्यम से अद्वैतवादियों के द्वारा किये गये भेदखण्डन का तर्कसंगत निराकरण किया है। भेदवाद और अभेदवाद का यह युद्ध कभी समाप्त नहीं हो सकता क्योंकि जैसे बिना भेद के अभेद नहीं हो सकता वैसे बिना अभेद के भेद भी नहीं हो सकता। यही कारण है कि भेदाभेद या भेद और अभेद दोनों को बहुत-से दार्शनिकों ने समकक्ष और एक दूसरे का पूरक माना है। ऐसे दार्शनिकों में भारत में भर्तृप्रपंच, भास्कर, निम्बार्क, चैतन्य और पश्चिम तथा यूरोपीय दार्शनिकों में हेगल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पाद - टिप्पणीयां तथा सन्दर्भ -

1- भेदरत्न पृ0 1·

2- वही पृ0 16·

3- वही पृ0 19·

4- खण्डनखण्डखाद्य, पृ0 18·

5- भेदरत्न, पृ0 24·

6- वही पृ0 36·

7- वही पृ0 50-51·

8- वही पृ0 38·

9- वही पृ0 38·

10- वही पृ0 41 ·

11- वही पृ0 41 ·

12- वही पृ0 41 ·

13- वही पृ0 73 ·

14- वही पृ0 72 ·

15- वही पृ0 72·

अद्वैतसिद्धिश्चेत् सत्यासिद्धम् द्वैतम् ततस्त्या।

16- वही, पृ0 72 तथा अन्योन्याभावात्मक भेदस्यैव नञर्थत्वम् - - - तथापि वैधर्म्य भेदस्य न र्थत्वम्। वही पृ0 4 ·

17- वहीं पृ0 72 ·

18- अद्वैतरत्नरक्षण पृ0 40 •

19- दे॰ भेदसिद्ध, सं0 और व्याख्याकार सूर्य नारायण शुक्ल, गर्वनमेंट संस्कृत कालेज वाराणसी, 1938, पृ0 65-83 •

20- वही पृ0 71 में उद्धृत ।

21- खण्डनखण्डखाद्य की शांकरी टीका, हिन्दी अनुवाद सहित, हनुमानदास षट्शास्त्री, पृ0 642 •

22- भामती

23- श्रीविष्णुपुराण, हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ0 450 •

24- भेदसिद्ध पृ0 52

25- भेदरत्न पृ0 4 •

26- वही पृ0 5 •

27- वही पृ0 5 •

28- वही पृ0 5 •

29- वही पृ0 5-6 •

30- वहीपृ0 6 •

31- वही पृ0 26•

32- वही पृ0 26 ·

33- वही पृ0 8 ·

34- खण्डनखण्डखाद्य, विद्यासागरी सहित, हिन्दी अनुवादसहित, अनु0 स्वामी योगीन्द्रानन्द वाराणसी 1979, पृ0 17 ·

35- खण्डनगर्तप्रदर्शनी, खण्डनखण्डखाद्य शांकरी सहित, लाजरस संस्करण में सम्मिलित, दे0 वहीं टिप्पणी 2 में उद्धृत प्रस्तुत श्लोक और वही टिप्पणी 3 में चतुर्भिदों के प्रतिपादन।

36- भेदरत्न पृ0 17 ·

37- भेदरत्न पृ0 22 ·

38- वही पृ0 4 ·

39- वही पृ0 1 ·

40- अद्वैतरत्नरक्षण पृ0 2 ·

41- वही पृ0 40· दे0 दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का ग्रन्थ हिस्ट्री आफ नव्य न्याय इन मिथिला, पृ0 137·

सप्तम अध्याय

सप्तम अध्याय

न्याय बनाम अद्वैतवेदान्त

न्याय सूत्रकार गौतम और ब्रह्मसूत्रकार बादरायण से लेकर नैयायिक उदयन तक न्यायदर्शन और अद्वैतवेदान्त के बीच कोई विशेष संघर्ष नहीं था। दोनों में एक प्रकार का समन्वय स्थापित था, क्योंकि दोनों आस्तिक दर्शन थे। स्वंय उदयन अद्वैतवेदान्त की ओर झुके थे, ऐसा बहुतों का मत है। कम से कम उन्होंने अपने किसी ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त का खण्डन नहीं किया था।[1] किन्तु उन्होंने अद्वैतवेदान्त के मायावाद का खुलकर समर्थन भी नहीं किया था। उन्होंने केवल यह कहा था कि [illegible] वास्तविक जगत् के [illegible] की उपेक्षा करते हैं, उनका यह कथन न्यायमत और अद्वैतमत को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास है[2]। परन्तु मधुसूदन सरस्वती और गौड ब्रह्मानंद ने अद्वैतवाद की सिद्धि में उदयन के वचनों को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है[3]।

उदयन ने सचमुच आत्मतत्त्व विवेक में अद्वैतवाद का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि अविद्या ही यथानुभव विवर्तन करती है, अविद्यैव तथा तथा विवर्तते यथा यथा अनुभाव्यता व्यवह्रियते[4]। अन्ततोगत्वा वे अद्वैतवेदान्त से अपने आत्मतत्त्व-विवेक का उपसंहार करते हैं। वे कहते हैं - तत: केवलम् आत्मा प्रकाशते यम् आश्रित्य अद्वैत मतोपसंहार:[5]। न्यायकुसुमांजलि में भी वे न्यायचर्चा को वेदान्त का मनन कहते हैं :-

न्यायचर्चेमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।

उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ।।[6]

प्रकार न्यायदर्शन अद्वैतवेदान्त के समकक्ष हो जाता है ।

परन्तु उदयन से ही न्यायदर्शन और अद्वैतवेदान्त के संघर्ष का इतिहास भी प्रारम्भ होता है । उदयन ने श्रीहीर को शास्त्रार्थ में पराजित किया था । श्रीहीर ने इस पराजय के फलस्वरूप आत्महत्या की थी । उनके पुत्र श्री हर्ष ने पिता की पराजय का बदला लेने के लिये न्यायमत का खण्डन किया और खण्डनखण्डखाद्य नामक एक ग्रन्थ लिखा । इसी ग्रन्थ में न्याय दर्शन का सर्वप्रथम खण्डन है ।

नैयायिकों को अपने निर्वचन का अभिमान होता है । वे सभी विषयों को [illegible] मानते हैं । श्रीहर्ष ने उनकी इन दोनों प्रवृत्तियों का खण्डनखण्डखाद्य में खण्डन किया, जिसके लिये उनका नाम अद्वैतवेदान्त के इतिहास में अमर हो गया है । स्वामी विद्यारण्य पंचदशी में कहते हैं कि श्रीहर्ष ने उन नैयायिकों के अभिमान को चूर्ण कर दिया है जिन्हें अपनी निर्वचन-शक्ति पर अभिमान था ।

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।

हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ।।

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ।

अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत्खलु ।।[7]

इस प्रकार स्वामी विद्यारण्य ने सिद्ध किया कि जो भाव अचिन्त्य हैं उनके बारे में तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए, और यह जगत् निश्चय ही मन के द्वारा अचिन्त्य है । अतः इस जगत् की उत्पत्ति और व्याख्या के बारे में भी तर्क की गति नहीं होती । इस कथन का साम्य कांट के बुद्धि के सत्प्रतिपक्षों में (Antinomies of Reason) में खोजा जा सकता है, जहां यह सिद्ध किया गया है कि जगत्-विषयक समस्त तार्किक चिन्तन सत्-प्रतिपक्ष दोष से ग्रस्त है ।

खण्डनखण्डखाद्य पर अद्वैतवेदान्ती और नैयायिकों दोनों ने टीकाएं लिखी हैं । अद्वैतवादी टीकाओं में चित्सुख की भावदीपिका और आनन्द पूर्ण विद्यासागर की विद्यासागरी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । परन्तु इस ग्रन्थ पर अद्वैतवादी टीकाओं की अपेक्षा नैयायिक टीकाएं अधिक हैं । इस पर निम्नलिखित नैयायिकों ने टीकाएं लिखी हैं :-

	नैयायिक	टीका
1-	वर्धमान उपाध्याय	खण्डनप्रकाश
2-	शंकर मिश्र	आनन्दवर्धन (या शांकरी)
3-	प्रगल्भ मिश्र	खण्डनदर्पण
4-	रघुनाथ शिरोमणि	खण्डनभूषामणि
5-	पद्मनाभ	शिष्यहितैषिणी
6-	सूर्य नारायण शुक्ल	खण्डनरत्नमालिका
7-	पद्मनाथ दत्त	खण्डनटीका

8- अभिनव वाचस्पति मिश्र खण्डनोद्धार

9- गोकुल नाथ उपाध्याय खण्डनकुठार

इनके अतिरिक्त नैयायिक दिवाकर तथा भवनाथ की भी टीकाओं की सूचना मिलती है । इन सभी टीकाओं में शंकर मिश्र और अभिनव वाचस्पति मिश्र तथा गोकुलनाथ उपाध्याय की टीकाओं का न्यायदर्शन के दृष्टिकोण से विशेष महत्व है, क्योंकि इन नैयायिकों ने खण्डनखण्डखाद्य की समालोचना की है जबकि अन्य नैयायिकों ने मात्र उसकी व्याख्या की है । इन तीन नैयायिक समालोचकों में भी शंकर मिश्र व्याख्या और समालोचना दोनों करते हैं, तथा अभिनव वाचस्पति मिश्र और गोकुलनाथ उपाध्याय केवल समालोचना या खण्डन करते हैं ।

खण्डनखण्डखाद्य के नैयायिक टीकाकारों में तीन दृष्टियां पाई जाती हैं :-

पहली दृष्टि उन नैयायिकों की है जिन्होंने अद्वैतवेदान्त को स्वीकार कर लिया था और न्यायमत का अद्वैतमत से समन्वय किया था । प्रगल्भ मिश्र और रघुनाथ शिरोमणि ऐसे नैयायिकों में प्रमुख हैं । दूसरी दृष्टि वितण्डावाद की दृष्टि है । खण्डनखण्डखाद्य को शंकर मिश्र जैसे नैयायिकों ने वितण्डावाद का ग्रन्थ माना है । वितण्डा न्यायदर्शन के 16 पदार्थों में से एक पदार्थ है। इसलिये वितण्डा का निरूपण करना न्यायदर्शन का अभीष्ट है । वैतण्डिक या खाण्डनिक किसी वाद का समर्थन नहीं करता और प्रत्येकवाद का खण्डन करता है । उसका यह खण्डन वितण्डा है । गौतम ने वितण्डा की निम्नलिखित परिभाषा दी है :-

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा [8] ।

अर्थात् वितण्डा वह जल्प है जिसमें प्रतिपक्ष की स्थापना न हो । इस वितण्डा का अभ्यास करने के लिये नैयायिकों ने खण्डनखण्डखाद्य को अपनी टीका का विषय बनाया । यह भी उल्लेखनीय है कि शांकर मिश्र ने खण्डनखण्डखाद्य पर टीका लिखने के अतिरिक्त वादिविनोद नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा, जो खण्डन-खण्डखाद्य की ही जाति का एक ग्रन्थ है । अन्त में तीसरी दृष्टि खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन करने की है । अभिनव वाचस्पति मिश्र और रघुनाथ उपाध्याय ने इसी दृष्टि से खण्डनखण्डखाद्य पर टीकाएँ लिखीं । उन्होंने खुलकर अद्वैतवेदान्त का खण्डन तथा न्यायदर्शन का समर्थन किया है ।

अद्वैतवेदान्त के खण्डनकर्ताओं में शांकर मिश्र और अभिनव वाचस्पति मिश्र के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । जैसे अद्वैतवेदान्त की स्थापना में शांकराचार्य और वाचस्पति मिश्र के नाम प्रसिद्ध है वैसे ही अद्वैतवेदान्त के खण्डनकर्ता नैयायिकों में शांकर मिश्र और अभिनव वाचस्पति मिश्र के नाम अग्रगण्य हैं । शांकर मिश्र और अभिनव वाचस्पति मिश्र अद्वैतविरोधी विचारधारा के नायक हैं । इनका प्रतिवाद रघुनाथ शिरोमणि के गुरु वासुदेव सार्वभौम ने किया जो पहले महानैयायिक थे, बाद में अद्वैतवेदान्ती हुए और अन्त में श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रेम-भक्ति -सिद्धान्त के पूर्ण अनुयायी हो गये । उनका कथन है कि "मैं अभिनव वाचस्पति मिश्र और शांकर मिश्र के घमण्ड को ब्रह्मास्त्र लेकर दूर कर दूंगा । गौतम के न्यायशास्त्र पर उन्हें जो गर्व है उसको मैं समाप्त कर दूंगा ।"

वाचस्पतिशंकरयोगौं[illegible]बुद्धि शास्त्रगर्वितयोः ।

निर्वापयामि गर्वमेकं ब्रह्मास्त्रमादाय ।।[9]

यह था शांकर मिश्र और अभिनव वाचस्पति मिश्र को उत्तर जिसे एकमहान् नव्यनैयायिक ने ही दिया । किस प्रकार वासुदेव सार्वभौम ने इनके मतों का खण्डन किया है, यह जानना सरल नहीं है क्योंकि वह ग्रन्थ जिसमें यह खण्डन किया गया है न तो प्रकाशित है और न उपलब्ध ही है । फिर भी लगता है कि उसमें वे ही तर्क होंगे जो मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि में मिलते हैं क्योंकि उन्होंने भी नव्य-न्याय की आलोचना का भरपूर उपयोग किया था और नव्य-न्याय की ही शैली में अद्वैतवेदान्त का समर्थन किया था ।

शांकर मिश्र ने अद्वैतवेदान्त का खण्डन करने के लिये भेदरत्नप्रकाश नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने अभेद का खण्डन किया और भेदसिद्धि की प्रामाणिकता स्थापित की । श्री हर्ष ने घोषणा की थी कि ब्रह्मवादरूपी अस्त्र या ब्रह्मास्त्र को लेकर अद्वैतवेदान्ती किसी दूसरे दार्शनिक की परवाह नहीं करता है । वह वाद-विवाद में धीर और वीर होता है । उसके साथ चाहे जितना वाक्-युद्ध किया जाय उसकी पराजय करने वाला कोई नहीं है -

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।

आस्ते न धीरवीरस्य भंगः संगरकेलिषु ।।[10]

इसका प्रतिवाद करते हुए श्रीहर्ष के शब्दों में ही शांकर मिश्र ने कहा कि भेदरूपी अस्त्र को लेकर युद्ध करने वाला नैयायिक वीर और धीर होता है और उसको कोई हरा नहीं सकता है । ऐसा नैयायिक किसी अन्य दार्शनिक

की परवाह नहीं करता है -

एकं भेदास्त्रमादाय नान्यं गणयत: क्वचित् ।

आस्ते न धीरवीरस्य भंग संगरकेलिषु ।।[1]

यही नहीं शंकर मिश्र का मानना है कि जब तक भेद का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक मोक्ष लाभ नहीं होता, इसलिये भेदरूपीरत्न की रक्षा की जानी चाहिए और जो अद्वैतवेदान्ती उसको चुराते हैं या छिपाते हैं उनके मत का खण्डन किया जाना चाहिए ।

शंकर मिश्र ने अभेद का खण्डन करके भेद का जो समर्थन किया वह युगान्तरकारी सिद्ध हुआ । उसके खण्डन के रूप में मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतरत्नरक्षाण मल्लनाराध्याचार्य ने अभेदरत्नम् और नृसिंहाश्रम ने भेदधिक्कार नामक ग्रन्थ लिखे । शंकर मिश्र के समर्थन में नैयायिक विश्वनाथ पंचानन भटटाचार्य ने भेदसिद्धि , राखालदास न्यायरत्न ने अद्वैतवाद-खण्डन तथा पंचानन भटटाचार्य ने द्वैतोक्ति-रत्नमाला नामक ग्रन्थ लिखे । भेद और अभेद के इस विवाद ने विशाष्टिा - द्वैतवादी और द्वैतवादी वेदान्तियों को भी अपने अन्दर समेट लिया । एक ओर नैयायिक , रामानुजी विशिष्टाद्वैतवादी तथा माध्व वेदान्ती हैं जो भेद को स्वीकार करते हैं और अभेद का खण्डन करते हैं, तो दूसरी ओर शांकर अद्वैतवेदान्ती है जो इन सब का खण्डन करते हैं और अभेद को सिद्ध करते हैं । भेद और अभेद के विवाद से संबंधित समस्त ग्रन्थों का निरूपण पंडित सूर्यनारायण शुक्ल ने भेदसिद्धि की व्याख्या में संक्षेप में किया है ।[2]

निष्कर्षत: शंकर मिश्र का भेदरत्न प्रकाश अद्वैतवेदान्त और न्याय-दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, ठीक वैसे ही जैसे श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य इस संघर्ष में अपनी भूमिका निभाता है ।

खण्डनखण्डखाद्य और भेदरत्न प्रकाश के अतिरिक्त एक और ग्रन्थ है जो अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन के संघर्ष में अपना मौलिक स्थान रखता है । यह ग्रन्थ चित्सुख रचित तत्वप्रदीपिका है जिसे चित्सुखी कहा जाता है । यह ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त का प्रतिपादक है । इसमें कई नैयायिक मतों का खण्डन किया गया है, विशेषरूप से वादिवागीश्वर के मानमनोहर का, जिसमें न्याय-वैशेषिक के दृष्टिकोण से अद्वैतवेदान्ती विमुक्तात्मा की इष्ट सिद्धि का खण्डन किया गया था । इसके अतिरिक्त चित्सुख ने भासर्वज्ञ के न्यायभूषण और उदयन के ग्रन्थों का भी खण्डन किया है क्योंकि न्यायभूषण में अद्वैतवेदान्त का खण्डन किया गया था । भासर्वज्ञ और वादिवागीश्वर श्रीहर्ष और शंकर मिश्र के पूर्ववर्ती थे । उन्होंने अद्वैतवेदान्त के शास्त्रीय खण्डन का एक प्रकार से सूत्रपात किया है ।

न्यायमत और अद्वैतमत के विवाद में एक प्रमुख प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है । इस प्रसंग में उदयन का सर्वदर्शन सम्बन्ध आज तक नैयायिकों का प्रेरणा स्रोत है । उदयन के इस समन्वय में छह अवस्थाएँ हैं ।

पहली अवस्था बाह्यअर्थ की है, जिसे कर्ममीमांसक और चार्वाक मानते हैं । दूसरी अवस्था अर्थाकार की है, जिसे रामानुज और योगाचार बौद्ध मानते हैं । तीसरी अवस्था अर्थाभाव की है, जिसे वेदान्त और शून्यवाद मानते हैं । चौथी अवस्था विवेक की है, जिसे सांख्यमत और शाक्तमत स्वीकार करते हैं । पांचवी अवस्था अद्वैतवेदान्त की है, जिसमें केवल आत्मवाद को माना जाता है । छठी अवस्था अनिर्वचनीयतावाद की है, जिसे उदयन ने चरमवेदान्त तथा न्यायमत से अभिन्न कहा है । उनका कहना है कि यह अन्तिम अवस्था मोक्ष- नगर का गोपुर है ।[13] इस प्रकार उदयन ने न्यायदर्शन को सर्वोच्च दर्शन के रूप में प्रतिपादित किया ।

परन्तु अद्वैतवेदान्तियों ने न्यायमत की सर्वोच्चता का खण्डन किया और इस बात पर बल दिया कि उदयन ने जिसको चरमवेदान्त कहा है वह वास्तव में अद्वैतवाद का परिष्कृत रूप है । किन्तु असली प्रश्न यह है कि चरम अनुभव में अनात्मा का परिस्फुरण होता है या नहीं ? उसमें आत्मा का स्फुरण होता है ? इसको नैयायिक और वेदान्ती दोनों मानते हैं । परन्तु अद्वैतवेदान्ती यह कहते हैं कि उसमें अनात्मा का परिस्फुरण नहीं होता, जबकि नैयायिक यह मानते हैं कि उसमें अनात्मा का भी परिस्फुरण होता है । उदयन कहते हैं कि अनात्मा का यह परिस्फुरण अवर्जनीय है -

तस्माद् अनुभवव्यवस्थितौ अनात्मापि ।
परिस्फुरति इति अवर्जनीयमेतत् ।।[14]

यद्यपि न्यायमत और अद्वैत वेदान्त के संघर्ष में अनेक विषयों पर विवाद उठे हैं किन्तु मुख्य विवाद ज्ञानमीमांसा को लेकर है । ज्ञानमीमांसा का सर्वाधिक मौलिक सिद्धान्त भेद है या अभेद ? स्वप्रकाश के स्वरूप में भेद का प्रकाश होता है या नहीं ? ज्ञान का क्या स्वरूप है ? और उसमें श्रुति और तर्क की क्या भूमिका है ? और ऐसे ही अन्य प्रश्न हैं जो उपर्युक्त लम्बे विवाद में उठे हैं । इन प्रश्नों के समाधान न्यायमत या अद्वैतवेदान्त मत के परिप्रेक्ष्य से दिये जा सकते हैं । अद्वैतवेदान्तियों ने इन प्रश्नों के जो समाधान प्रस्तुत किये और नैयायिकों ने उनके जो खण्डन किये उसका अनुशीलन अभी तक नहीं किया गया है । अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन की ज्ञानमीमांसाओं के अन्तर को भी रेखांकित नहीं किया गया है । अतएव अद्वैत वेदान्त और न्यायमत के संघर्ष के आलोक में अद्वैतवेदान्ती ज्ञानमीमांसा के खण्डन का अनुशीलन भारतीय ज्ञानमीमांसा के आलोचनात्मक अध्ययन के लिये अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है । यही नहीं, यह अध्ययन समकालीन ज्ञानमीमांसा के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है क्योंकि भेद- अभेद तथा स्वप्रकाश को लेकर आज भी सम्पूर्ण विश्व में चिन्तन किया जा रहा है ।

न्यायमत के अनुसार ज्ञान गुण है, उसका आश्रय आत्मा है । आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती है और आत्मा इस ज्ञान के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करती है । परमात्मा या ईश्वर का लाभ होने पर आत्मा का ज्ञान उपशान्त हो जाता है । इस प्रकार आत्मा स्वरूपत: ज्ञान-शून्य है, परन्तु अद्वैतवेदान्त न्याय के इस आत्मा को जड़ विषय कहता है और इसका खण्डन

करता है । वह ज्ञान को गुण नहीं मानता अपितु आत्मस्वरूप ही मानता है । इस कारण ज्ञान नित्य और अविनाशी है ।

परन्तु इतना मतभेद होते हुए भी अद्वैतवेदान्त न्यायमत के ज्ञान को वृत्ति-रूप से स्वीकार करता है । वास्तव में अद्वैतवेदान्त में ज्ञान दो प्रकार का है - स्वरूपज्ञान और वृत्तिज्ञान । पहला अशेष ज्ञान है और दूसरा शेषज्ञान । पहला पारमार्थिक है और दूसरा व्यावहारिक या प्रातिभासिक । पहला आत्मा का ज्ञान है और दूसरा अनात्मा का ।

न्याय और अद्वैतवेदान्त दोनों ही यथार्थ और अयथार्थ वृत्ति-ज्ञान का विषय मानते हैं । जो अयथार्थ है वह प्रातिभासिक है । जो यथार्थ है वह न्यायदर्शन के अनुसार निरपेक्ष सत् है और अद्वैतवेदान्त के अनुसार सापेक्ष सत् है और इस कारण अनिर्वचनीय है ।

पुनश्च, न्याय और वेदान्त दोनों के अनुसार समस्त ज्ञान प्रमाण या प्रमा नहीं है । प्रमात्व न तो जाति है और न गुण; वह मात्र उपाधि है । इस पर न्याय और अद्वैतवेदान्त दोनों सहमत हैं, किन्तु अद्वैतवेदान्त मानता है कि प्रमात्व स्वत: उत्पन्न होता है और ज्ञात होता है अर्थात् जिस प्रमाण से ज्ञान उपलब्ध होता है उसी प्रमाण से उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न और ज्ञात होता है। परन्तु न्याय इसके विपरीत हैं । वह ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों को परत: मानता है । अत: इस विषय में न्याय और वेदान्त का गहरा विवाद है । परन्तु नैयायिक भी यह मानते हैं कि हमें कुछ विषयों के अनुभव ऐसे

होते है जिन पर शंका नहीं की जा सकती और इन्हीं के आधार पर हम अन्य अनुभवों की परीक्षा करते हैं । अत: एक सीमित अर्थ में नैयायिक भी स्वत: प्रामाण्य को मानते हैं ।

पुनश्च दोनों ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं । साथ ही दोनों की दृष्टि में अविद्या का निवर्तक होना भी प्रमाण का लक्षण है।किन्तु प्रमाण-संख्या पर दोनों में मतभेद है । नैयायिक प्राय: चार प्रमाण मानते है :- प्रत्यक्ष , अनुमान, उपमान और शब्द । इसके विपरीत वेदान्ती भट्ट-मीमांसक की भांति छह प्रमाण मानते हैं - प्रत्यक्ष , अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । परन्तु दोनों के पारस्परिक खण्डनों से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि दोनों के मतों से अन्ततोगत्वा स्वतन्त्र प्रमाण केवल तीन ही है - शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष । क्योंकि केवल इन्हीं प्रमाणों में क्रमश: संकेत-व्यापार, व्याप्ति-व्यापार और इन्द्रिय-व्यापार घटित होते हैं । और शेष अन्य प्रमाणों में इन्हीं तीनों व्यापारों का प्रयोग होता है । अत:"त्रिविधं प्रमाणम् " इस पर न्यायमत और अद्वैतमत दोनों की सहमति दीख पड़ती है ।

सभी प्रमाणों के लक्षण, व्यापार और प्रकार के ऊपर नैयायिकों और अद्वैतवेदान्तियों में मतभेद है ।[15] किन्तु दोनों ही यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों का उपजीव्य है।परन्तु अद्वैतवेदान्ती शब्द प्रमाण को प्रत्यक्ष से अधिक बलवान् मानते हैं और नैयायिक इनके इस मत का खण्डन करते हैं । अप्रमा को लेकर भी न्याय और अद्वैतवेदान्त में बड़ा गहरा विवाद है । न्याय अन्यथा-ख्यातिवाद को मानता है और अद्वैतवेदान्त अनिर्वचनीयख्यातिवाद को ।

परन्तु न्याय और अद्वैतवेदान्त दोनों ही ज्ञानमार्गी हैं और दोनों ही प्रमाणमीमांसा को बुनियादी मानते हैं । अत: इनके पारस्परिक खण्डन की युक्तियों के वन में विचरण करते हुए दोनों के मान्य मतों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए । दोनों आस्तिक दर्शन हैं और दोनों का दावा है कि उपनिषद् की दार्शनिक परम्परा का निर्वाह उनका ही दर्शन करता है अर्थात् दोनों अपने को उपनिषद्-दर्शन का वास्तविक दायाद (उत्तराधिकारी) मानते हैं ।

पाद - टिप्पणी तथा संदर्भ -

1- दे. **Encyclopedia of Indian Philosophy. Vol II, ed.**
Karl Potter, मोती लाल बनारसी दास , वाराणसी , पृ0 707 ।

2- वही पृ0 708 ।

3- वही पृ0 707 ।

4- आत्मतत्त्वविवेक, उदयन, चौखम्भा , वाराणसी ,1940, पृ0 223 ।

5- वहीं पृ0 450 ।

6- न्यायकुसुमांजलि 1/3 ।

7- पंचदशी 6/ 149 - 150 ।

8- न्यायसूत्र 1/2/3

9- दे. काशी की सारस्वत साधना, डा0 गोपी नाथ कविराज,
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद , 1965, पृ0 10 में उद्धृत श्लोक ।

10- खण्डनखण्डखाद्य , सम्पादक और हिन्दी अनुवादक स्वामी योगीन्द्रानन्द
षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान , वाराणसी, 1979 ,पृ0 93 ।

11- भेदरत्नम् , शंकर मिश्र , वाराणसी , 1933, पृ0 66 ।

12- दे. भेदसिद्धि , सं. सूर्य नारायण शुक्ल , वाराणसी ,1933 भूमिका पृ0 4 - 10 ।

13- दे. ऊपर उद्धृत आत्मतत्त्वविवेक , पृ0 445 - 450 ।

14- वही पृ0 223 ।

15- इन मतभेदों के लिये देखिए , वृत्तिप्रभाकर,साधुनिश्चलदास , खेमराज श्रीकृष्णदास , बम्बई , 1949 , प्रथम छह प्रकाश ।

अष्टम अध्याय

अष्टम अध्याय

दर्शनशास्त्र में शांकर मिश्र का स्थान

1- सामान्य विवेचन

शांकर मिश्र भारतीय दर्शनशास्त्र के , विशेषत: न्यायशास्त्र के , एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं । उनकी दार्शनिक रचनाएं चार कोटियों में बांटी जा सकती हैं - ﴾1﴿ स्वतन्त्र ग्रन्थ या प्रकरण ग्रन्थ, ﴾2﴿ वृत्ति, ﴾3﴿ टीका और ﴾4﴿ व्याख्यान या व्याख्या-ग्रन्थ । उदाहरण के लिये , भेद- प्रकाश और वादिविनोद प्रकरण-ग्रन्थ हैं , वैशेषिकसूत्रोपस्कार वृत्ति ग्रन्थ है , आनन्दवर्धन टीका- ग्रन्थ है और चिन्तामणि मयूख , त्रिसूत्रीनिबन्ध व्याख्या आदि व्याख्या या व्याख्यान-ग्रन्थ है । यदि सूक्ष्मता से विचार किया जायतो खण्डनखण्डखाद्य टीका अर्थात् आनन्दवर्धन कोव्याख्यान-ग्रन्थ भी कहा जा सकता हैं । टीका संक्षिप्त होती है और व्याख्यान- ग्रन्थ बृहत् होता है । दोनों में आकार को छोड़कर कुछ समानता रहती है ।

दार्शनिक कृतियों के इन चार प्रकारों के परम्परागत लक्षणों को जानना यहां प्रासंगिक एवं उपयोगी है ।

﴾क﴿ प्रकरण । प्रकरण का लक्षण यों हैं -

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।

आहु : प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चित: [1] ।।

अर्थात् प्रकरण ग्रन्थ वह है जो किसी शास्त्र के एक अंश का प्रतिपादन करता है और प्रयोजनानुसार दूसरे शास्त्रों के उपयोगी अंश को भी वर्णन करता

है । वादिविनोद और भेद प्रकाश इस अर्थ में प्रकरण-ग्रन्थ हैं । वादिविनोद में न्यायदर्शन के वादपदार्थ का विवेचन किया गया है और अन्य दर्शनों के वादों का भी उपयोगी तथा प्रासंगिक निरूपण किया गया है । भेद प्रकाश में भेद का निरूपण है और जो लोग भेद का खण्डन करते हैं उनके मत का युक्तियुक्त निराकरण करते हुए भेदवाद के पक्ष में युक्तियां दी गई हैं ।

§ख§ वृत्ति / वृत्ति का लक्षण है -

सूत्रार्थ प्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः[2] । अर्थात् वृत्ति सूत्र ग्रन्थ की संक्षिप्त व्याख्या है जिसका प्रधान प्रयोजन सूत्रार्थ को स्पष्ट करना है । इस अर्थ में वैशषिक सूत्रोपस्कार कणाद के वैशेषिक सूत्र की वृत्ति है । यह वृत्ति वैशषिक सूत्र का प्रौढ़ और प्रामाणिक विवरण है ।

§ग§ टीका / टीका का लक्षण है ।

मूलग्रन्थस्य अप्रतिपत्ति -विप्रतिपत्तयन्यथा प्रतिपत्ति - निवारणेन तत्कर्त्तुरभिप्रेतार्थस्य शब्दान्तरेण विवरणम्[3] ।

अर्थात् किसी मूलग्रन्थ को समझना, उसके विपरीत मतों का निराकरण करना और उसके मत -स्थापना से भिन्न मतस्थापना की विधि का खण्डन करना टीका का कार्य है । इस अर्थ में किरणावलीनिरुक्ति प्रकाश, कणादरहस्य, चिन्तामणिमयूख और आनन्दवर्धन टीका ग्रन्थ हैं ।

§घ§ व्याख्यान-ग्रन्थ / व्याख्यान-ग्रन्थ का लक्षण है -

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।

आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधंमतम्[4] ।।

अर्थात् जिस ग्रन्थ में किसी मूल ग्रन्थ के पदच्छेद, पदार्थ-वर्णन, पदार्थ - विश्लेषण, वाक्य-योजना, आक्षेप और समाधान - ये छ: व्यापार प्रस्तुत किये जाते हैं वह व्याख्यान-ग्रन्थ या व्याख्या - ग्रन्थ कहा जाता है । व्याख्या - ग्रन्थों में पूर्ववर्ती व्याख्याओं या टीकाओं के उन मतों का निराकरण भी किया जाता है जो मूलग्रन्थ पर हठात् आरोपित किये जाते हैं । इसके बारे में निम्नलिखित प्रसिद्ध उक्ति है -

सूत्राभिप्रायसंवृत्तया स्वाभिप्रायप्रकाशनात् ।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये[5] ।।

व्याख्यान का यह प्रकार आक्षेप और समाधान के अन्तर्गत आता है जिसका वर्णन ऊपर व्याख्यान के लक्षण में दिया गया है । इस दृष्टि से देखने पर टीका और व्याख्यान में बहुत कम अन्तर शेष रहता है । जो अन्तर प्रतीत होता है वह यह है कि टीका प्राय: मूलानुसारणी होती है और मूल से कम तथा अधिक का निरूपण नहीं करती है । किन्तु व्याख्यान मूल ग्रन्थ से अधिक की भी विवेचना करता है । दूसरे शब्दों में व्याख्यान आलोचनात्मक और गहन टीका है।इस मानदं पर खण्डनखण्डखाद्य टीका को आसानी से व्याख्यान-ग्रन्थ कहा जा सकता है ।

इन चारों प्रकार की कृतियों के आधार पर शांकर मिश्र भारतीय दर्शन के अनुसार प्रकरणाकार, वृत्तिकार, टीकाकार और व्याख्याकार माने जाते हैं । इन रूपों में उन्होंने जो कुछ दार्शनिक विवेचन किया हैं वह पिष्टपेषण न होकर विशु मौलिक चिन्तन है । शांकर मिश्र ने अन्यान्य भारतीय दार्शनिकों की भांति

इन विधाओं में रचना करके परम्परा और आधुनिकता का समन्वय किया है, अपने आधुनिक विचारों को परम्परा द्वारा स्वीकार्य करवाया है तथा परम्परागत विचारधारा को गुणवत्ता , मौलिकता और प्रामाणिकता के क्षेत्रों में काफी आगे बढ़ाया है । पाश्चात्य दार्शनिकों की दृष्टि से यदि उनकों देखा जाय तो वे वैसे ही मौलिक दार्शनिक सिद्ध होंगे जैसे डेकार्ट के ग्रन्थों पर भाष्य लिखने वाले स्पिनोजा या काण्ट के ग्रन्थों पर भाष्य लिखने वाले फिक्टे, शोपनहावर, एड्वर्ड केयर्ड आदि, या प्लेटो के ग्रन्थों पर आलोचना करने वाले अरस्तू । निष्कर्षत: शांकर मिश्र पिष्टपेषण करने वाले टीकाकर नहीं हैं, किन्तु वे एक मौलिक विचारक और आलोचक दार्शनिक हैं । उनका सबसे मौलिक चिन्तन अद्वैतवेदान्त के खण्डन के क्षेत्र में हैं जिसके कारण हम उन्हें अद्वैत-विरोधी न्यायदर्शन का प्रथम अग्रणी आचार्य कह सकते हैं । इसी आधार पर उनकी तुलना भगवत्पाद शांकराचार्य से की जाती है । अपने सम्प्रदाय में वे गुण, कर्म तथा नाम से शांकराचार्य के सदृश हैं यद्यपि वे शांकराचार्य से भिन्न मत रखते हैं ।

2- अद्वैतवेदान्त में शांकर मिश्र का स्थान

यह उल्लेखनीय है कि नैयायिक होने पर भी शांकर मिश्र अद्वैतवेदान्त के विद्वानों के मध्य काफी चर्चित रहे हैं । उन्होंने अद्वैतवेदान्त के बाध-प्रस्थान के मूल ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य पर एक टीका लिखी जिसे शांकरी या आनन्दवर्धन कहा जाता है । शांकरी टीका का मूल्यांकन विद्वन्मंडली द्वारा अत्यधिक किया जाता रहा है । अपने अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा शांकर मिश्र ने शांकरी के द्वारा ही अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है । उन्होंने खण्डनखण्डखाद्य को वितण्डा जाति का ग्रन्थ माना तथा उसकी न्यायानुसारी व्याख्या की । अपनी टीका में उन्होंने

श्रीहर्ष का वहीं पर खण्डन किया जहां उनकी व्याख्या न्यायमत के विपरीत थी । इस तरह उनकी टीका में कुछ स्थलों पर श्रीहर्ष के मतों का समर्थन है तो कुछ स्थलों पर खण्डन । उनके अद्वैतखण्डन का प्रभाव नैयायिकों और वेदान्तियों दोनों पर गहरा पड़ा है । प्रगल्भ मिश्र , रघुनाथ विद्यालंकार आदि नव्य नैयायिकों ने श्रीहर्ष के पक्ष में शंकर मिश्र के खण्डन का प्रत्युत्तर दिया है । इस प्रकार शांकरी टीका नैयायिकों के मध्य पर्याप्त रूप से चर्चित रही है ।

जिस ग्रन्थ के कारण अद्वैतखण्डनकर्ता के रूप में शंकर मिश्र का नाम अत्यधिक विख्यात है , वह भेदरत्न या भेद प्रकाश है । इसने अनेक अद्वैतवादियों को प्रत्युत्तर देने के लिये विवश किया । भेदरत्न में शंकर मिश्र ने श्रीहर्ष की ही शैली में अभेद का खण्डन प्रतिपादित किया था । श्रीहर्ष ने लिखा था -

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयत: क्वचित्
आस्ते न धीरवीरस्य भंग: संकरकेलिषु [6]।।

अर्थात् ब्रह्मवादरूपी अस्त्र या ब्रह्मास्त्र को लेकर अद्वैतवेदान्ती किसी दूसरे दार्शनिक की परवाह नहीं करता है । वह वाद- विवाद में धीर और वीर होता है । उसके साथ चाहे जितना वाक्- युद्ध किया जाय परन्तु जीत उसी की ही होती है । इसका प्रतिवाद करते हुए शंकर मिश्र ने भेदरत्न में कहा है -

एकं भेदास्त्रमादाय नान्यं गणयत: क्वचित् ।
आस्ते न धीरवीरस्य भंग संकरकेलिषु [7] ।।

अर्थात् भेदरूपी अस्त्र को लेकर युद्ध करने वाला नैयायिक वीर और धीर होता है , और उसको कोई हरा नहीं सकता है । ऐसा नैयायिक किसी अन्य दार्शनिक की परवाह नहीं करता है ।

पुनश्च भेदप्रकाश के महत्व को इस तथ्य से आंका जा सकता है कि इसके खण्डन में मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतरत्न रक्षण, मल्लनाराध्यआचार्य ने अभेदरत्न और नृसिंहाश्रम ने भेदधिक्कार नामक ग्रन्थ लिखे । इन अद्वैतवादियों को प्रत्युत्तर देते हुए शंकर मिश्र के पक्ष में नैयायिक विश्वनाथ,पंचानन भट्टाचार्य ने भेदसिद्धि राखालदास न्यायरत्न ने अद्वैतखण्डन तथा पंचानन भट्टाचार्य ने द्वैतोक्तिमाला नामक ग्रन्थ लिखे । इस प्रकार भेद-विषय को शास्त्रार्थ का विषय बनाकर शंकर मिश्र ने अपनी अभूतपूर्व प्रतिभाशक्ति का परिचय दिया है । उनके समय से लेकर बीसवीं शती तक भेद- अभेद का विवाद न्याय और अद्वैतवेदान्त के पक्षधरों में चल रहा है । शंकर मिश्र को सबसे कड़ा उत्तर मधुसूदन सरस्वती ने दिया है । परन्तु निष्पक्ष आलोचकों का मानना है कि मधुसूदन सरस्वती अपनी आलोचना में उद्धत तथा असंयमित हो गये हैं जो एक स्थितप्रज्ञ संन्यासी के लिये अशोभनीय है । पुनश्च मधुसूदन सरस्वती कृष्णोपासक भक्त हैं और यदि उनकी कृष्णभक्ति पर विचार किया जाय तो सिद्ध हो जायगा कि अद्वैतवेदान्त के अन्दर भक्ति को महत्व देकर उन्होंने भेद को मान्यता दे ही दी है । यह शंकर मिश्र का प्रभाव नहीं तो और क्या है ?

अपरंच , प्राचीन न्याय, नव्य न्याय और वैशेषिक दर्शन द्वैतवाद के आधारभूत सिद्धान्त हैं । इसलिये इन दर्शनों में शंकर मिश्र ने जो कुछ लिखा है उसका भी महत्व अद्वैतवाद के खण्डन में है । इससे उनका एक प्रमुख सिद्धान्त यथार्थवाद निकलता है । अद्वैतवेदान्त में सद्भाव का निरूपण तथा यथार्थवाद

और पदार्थवाद का खण्डन है । वैशेषिक -दर्शन , प्राचीन न्याय और नव्यन्याय सद्भाव के विवेचन को उतना महत्व नहीं देते जितना पदार्थवाद के विवेचन को । यह भी कहा जा सकता है कि वे सद्भाव को अपर्याप्त पाते हैं और पदार्थवाद या पदार्थमीमांसा उनके मतानुसार प्रमुख दार्शनिक विषय है । इसी प्रकार ज्ञान-मीमांसा में जहां अद्वैतवेदान्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों को मात्र लौकिक प्रमाण कहकर तिरस्कृत करता है और स्वानुभूति को सर्वाधिक महत्व प्रदान करता है वहां न्याय और वैशेषिक दर्शन को मानते हुए शंकर मिश्र स्वानुभूति को उतना महत्व नहीं देते जितना प्रत्यक्षादि प्रमाणों को । वे स्वानुभूति को भी न्याय और वैशेषिक की परम्परा के अनुसार प्रत्यक्ष के अन्दर रखते हैं । उनका यह प्रयास उनको अद्वैतवेदान्त से दूर ले जाता है और आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन के समीप ला देता है । वे मूलत: अनुभववादी- यथार्थवादी दार्शनिक हैं ।

परन्तु कुछ नव्य नैयायिक भी शंकर मिश्र के आलोचक हैं । उदाहरण के लिये, नव्य नैयायिक वासुदेव सार्वभौम लिखते हैं , " शंकर मिश्र न्यायशास्त्र पर गर्व करने वाले तथा अद्वैतवेदान्त के विरोधी दार्शनिक है, मैं उनके इस गर्व को काट दूंगा ।"

वाचस्पति शंकरयोर्गौतमकृत बुद्धिशास्त्र ।
गर्वितयोर्निर्वापयामि गर्वमेकं ब्रह्मास्त्रमादाय[8] ।।

इस प्रकार एक ओर अद्वैतवेदान्तियों और नैयायिकों ने शंकर मिश्र की खण्डनखण्डखाद्य टीका का स्वागत किया तो दूसरी ओर इन दोनों ने उनके

अद्वैत-खण्डन का विरोध भी किया । किन्तु इस विरोध के पीछे कुछ घपलेबाजी है। उदयन और शांकर मिश्र न्याय को जिस प्रकार अद्वैतवाद के समकक्ष करते हैं 8, उसको न तो परवर्ती नैयायिक समझ पाये और न अद्वैतवेदान्ती । तर्कबुद्धि से भी अद्वैत तत्व का ग्रहण हो सकता है और आत्मतत्व का विशुद्ध बोध प्राप्त किया जा सकता है, इस तथ्य को उदयन और शांकर मिश्र ने उजागर किया है । न्याय की इस प्रणाली में निदिध्यासन का कोई स्थान नहीं है । इसमें श्रवण का भी गौण महत्व है । इसमें महत्व केवल प्रत्यक्ष और अनुमान का है जिनके सहारे बौद्धिक क्रिया द्वारा आत्मतत्व की अपरोक्ष अनुभूति संभव है । पाश्चात्य दर्शन में हेगल और नव हेगलवादी दार्शनिक भी ऐसा ही चिन्तन करते हैं और वे बौद्धिक या तार्किक प्रातिभ-ज्ञान में समस्त दार्शनिक क्रिया का अवसान मानते हैं । इस दृष्टि से हेगल और उसके अनुयायी उदयन तथा शांकर मिश्र के अधिक निकट हैं और शांकर मिश्र के परवर्ती नैयायिक उनसे दूर हो गये हैं ।

3- नव्य न्याय में शांकर मिश्र का स्थान

म0म0 गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि गंगेश के बाद पक्षधर को छोड़कर शायद ही कोई मैथिल नैयायिक शांकर मिश्र की बराबरी कर सकता है[9]। अद्भुत प्रतिभा के कारण उनकी तुलना आचार्य शांकर से की जाती है, जैसा कि निम्न पंक्ति से स्पष्ट है -

शांकरवाचस्पतयोः समानौ शांकर वाचस्पति भवतः [10] ।

इसी प्रकार शांकर मिश्र का मूल्यांकन करते हुए म0म0 उमेश मिश्र कहते हैं कि

मिथिला के सांस्कृतिक इतिहास में शंकर मिश्र का स्थान अद्वितीय है । यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने प्राय: कठिन ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी है तथापि उनकी टीकाओं ने मिथिला के गौरव को बढ़ाया है और प्राचीन न्याय तथा वैशेषिक के पठन - पाठन का पुनरुद्धार किया है [11] । वे नैयायिक और वैशेषिक दोनों थे । जिस अधिकार से उन्होंने न्याय- वैशेषिक दर्शन पर ग्रन्थ लिखे उसी अधिकार से उन्होंने अद्वैतवेदान्त पर भी ग्रन्थ लिखे तथा अद्वैतवेदान्त की आलोचना से न्याय- दर्शन की प्रतिरक्षा की ।

वास्तव में नव्यन्याय में शंकर मिश्र का जो प्रमुख स्थान हो गया है उसकी पृष्ठभूमि में कई महत्वपूर्ण कारण हैं ।

पहला , शंकर मिश्र उन बिरले नव्य नैयायिकों में है जिन्होंने गंगेश की तत्वचिंतामणि , उदयन के न्यायकुसुमांजलि , आत्मतत्वविवेक और किरणावली वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती तथा श्री हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य पर प्रामाणिक व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं । यह उल्लेखनीय है कि नव्य न्याय के क्षेत्र में इन्हीं छ: ग्रन्थों का विशेष आलोड़न - बिलोड़न तथा परिवर्धन- परिष्कार होता रहा है । इन छ: ग्रन्थों पर व्याख्या लिखना शंकर मिश्र कीविद्वत्ता और दार्शनिकता को नव्य- न्याय के क्षेत्र में सर्वातिशायिनी बना देता है । दूसरे , शंकर मिश्र का न्यायमत गंगेश उपाध्याय और उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय के द्वारा प्रवर्तित न्याय- सम्प्रदाय से भिन्न है । उनका निजी सम्प्रदाय जीवनाथ मिश्र और भवनाथ मिश्र का सम्प्रदाय है । ये दोनों नैयायिक क्रमश: शंकर मिश्र के दादा

और पिता थे । इस प्रकार उनका कुटुम्ब विशेष रूप से वर्धमान उपाध्याय के मतों का आलोचक था । ऐसे परिवार और दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रशिक्षित होने के कारण शांकर मिश्र नव्य न्याय की एक अपनी मैथिल शाखा का प्रवर्तन और विकास करते हैं । तीसरे , शांकर मिश्र गंगेश की अपेक्षा उदयन के अधिक निकट हैं । इस कारण वे न्याय और वैशेषिक को एक शास्त्र मानते हैं तथा प्राचीन न्याय और नव्य न्याय दोनों को एक साथ लेकर चलते हैं । वे उन दार्शनिकों में अग्रणी हैं जिन्होंने उदयन के न्यायकुसुमांजलि और आत्मतत्वविवेक को नव्य न्याय के क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान दिया और ईश्वरवाद तथा आत्मवाद से संबंधित गंगेश उपाध्याय के विचारों को उदयनाचार्य के विचारों से कम महत्वपूर्ण समझा । वास्तव में उदयनाचार्य के इन दो ग्रन्थों ने तत्व चिन्तामणि के प्रभाव- क्षेत्र को सीमित कर दिया । परिणाम यह हुआ कि ईश्वरवाद तथा आत्मवाद के लिये नव्यनैयायिकों ने गंगेश उपाध्याय के स्थान पर उदयनाचार्य को अधिक महत्व दिया। चौथे, शांकर मिश्र ने श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य को नव्य न्याय के क्षेत्र में प्रविष्ट किया और यह प्रतिपादित किया कि मात्र प्रत्यक्ष , अनुमान , उपमान और शब्द - ये चार प्रमाण ही नव्य न्याय के विषय नहीं हैं, किन्तु वाद, जल्प , कथा ,वितण्डा, आत्मा , ईश्वर और मुक्ति भी नव्य न्याय के मान्य विषय हैं । खण्डनखण्डखाद्य में ये सभी विषय समाहित हैं । यही कारण है कि उसका प्रचार नव्य न्याय के क्षेत्र में बहुत अधिक हुआ और श्रीहर्ष को गंगेश तथा उदयन के

समकक्ष नव्य न्याय के प्रथम कोटि के दार्शनिकों में गिना जाने लगा । यह शांकर मिश्र और उनके नव्य - न्याय -सम्प्रदाय की विजय है कि नव्य - न्याय के क्षेत्र में तत्वचिन्तामणि के साथ खण्डनखण्डखाद्य , न्यायकुसुमांजलि और आत्मतत्वविवेक के गम्भीर पठन- पाठन की दृढ़ परम्परा बनी रही ।

4- शांकर मिश्र का परवर्ती दार्शनिको पर प्रभाव

किसी दार्शनिक के प्रभाव को जानने के लिये यह जानना आवश्यक है कि उसके ग्रन्थों का पठन - पाठन किस प्रकार बढ़ता रहा है तथा उसके मतों का खण्डन -मण्डन किस प्रकार होता रहा है । इस दृष्टि से देखने पर सर्वप्रथम हम पाते हैं कि शांकर मिश्र के दो ग्रन्थों का पठन - पाठन उनकी रचना काल से लेकर आज तक लगातार हो रहा है । ये दो ग्रन्थ हैं - खण्डनखण्डखाद्य टीका और वैशेषिक सूत्रोपस्कार । अंग्रेजी और हिन्दी में भी जब श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य तथा कणाद के वैशेषिक सूत्र पर कोई व्यक्ति कुछ लिखता है तो वह आज भी इन्हीं दो ग्रन्थों को पहले पढ़ता है और तब अपने विचारों को लिपिबद्ध करता है । यद्यपि वैशेषिक सूत्र पर उपस्कार से प्राचीन कोई वृत्ति थी तथापि वह आज उपलब्ध नहीं है । वैशेषिक सूत्र पर उपस्कार से अच्छी वृत्ति आज तक नहीं लिखी गई है । शांकर मिश्र की निम्नलिखित उक्ति शब्दश: सार्थक सिद्ध हो गई है :-

सूत्रमात्रावलम्बेन निरालम्बेऽपि गच्छत: ।

खे खेलवन्ममाप्यत्र साहंस सिद्धिमेष्यति [12] ।।

उनका यह ग्रन्थ सचमुच सिद्ध ग्रन्थ हो गया है । इसमें उन्होंने कहीं - कहीं स्वतन्त्र रूप से अपने प्रतिपाद्य विषय का अतिसूक्ष्म विवेचन किया है । उदाहरण के लिये उनके द्वारा दी गई सामान्य की परिभाषा को लिया जा सकता है , जो यो हैं -

तत्रनित्यमेनकव्यक्तिवृत्ति सामान्यम् नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभाव सामानाधिकरण्यं वा [13] ।

यहां सामान्य की दो परिभाषाएँ हैं - §1§ तत्र नित्यमेनक व्यक्तिवृत्ति सामान्यम् तथा §2§ नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभाव सामानाधिकरण्यं । पहली परिभाषा के अनुसार सामान्य वह पदार्थ है जो नित्य है और जो अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हो । दूसरी परिभाषा के अनुसार सामान्य वह पदार्थ है जो नित्य हो और जो अपने आधारभूत व्यक्तियों के परस्पर अन्योन्याभाव के आश्रय में विद्यमान हो । शंकर मिश्र की दोनों परिभाषाओं में नित्यत्व सामान्य का लक्षण है । किन्तु कुछ वैशेषिक आचार्यों ने नित्यत्व को सामान्य का लक्षण नहीं माना [14] । यहां यह कहना आवश्यक है कि शंकर मिश्र की दूसरी परिभाषा उन्हें एक नव्य नैयायिक बनाती है । इस परिभाषा में उन्होंने अन्योन्याभाव भेद का प्रयोग किया है लगता है यह परिभाषा बौद्धों को सम्बोधित करके लिखी गई है ।

पुनश्च, भेद को लेकर शंकर मिश्र ने जो शास्त्रार्थ प्रस्तुत किया वह कालजयी हो गया है । उसके पक्ष और विपक्ष में जो प्रचुर साहित्य लिखा जा चुका है उसका महत्व न्याय से अधिक वेदान्त के क्षेत्र में हो गया है । भेद के पक्ष में सभी वैष्णव वेदान्ती खड़े हो गये हैं और अभेद के पक्ष में केवल अद्वैतवेदान्ती ही हैं । अद्वैतवेदान्तियों ने भी भेद को किसी - न - किसी रूप में स्वीकार कर लिया है जिसके कारण विगत कई शताब्दियों से वे भी भक्ति-मार्गी हो गये हैं । ऐसे अद्वैतवेदान्ती भेद को काल्पनिक ज्ञान या आहार्यज्ञान मानते हैं और उसका समन्वय अपने केवलाद्वैतवाद से करते हैं । इस प्रकार भेद को लेकर शंकर मिश्र ने जो कुछ लिखा है उसका प्रभाव परवर्ती दार्शनिक चिन्तन पर बहुत गहरा पड़ा है ।

अन्त में , शंकर मिश्र को प्राचीन न्याय, नव्य न्याय और अद्वैतवेदान्त का सेतु कहा जा सकता है । उन्होंने इन तीनों को मिलाने का प्रशंसनीय कार्य किया है । इन तीनों क्षेत्रों में उनका प्रभाव परवर्ती विचारकों पर विशेष रूप से पड़ा है जो दार्शनिक पद्धति के परिष्कार में देखा जा सकता है । इन तीनों दर्शनों में एक सामान्य दार्शनिक पद्धति स्वीकृत हो गई है जिसमें निम्नलिखित दो सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं -

(1) तर्क का महत्व / तर्क के महत्व को दार्शनिक पद्धति में दर्शाते हुए शंकर मिश्र ने लिखा है कि प्रत्यक्षागोचर विषयों के अस्तित्व को भी तर्क-रसिक दार्शनिक तर्कों से सिद्ध करते है [15] । शंकर मिश्र की यह प्रवृत्ति उन्हें आधुनिक तार्किक

अनुभववादियों की कोटि में रख देती है जो तर्कशास्त्र को मनोविज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं अथवा अनुमान को प्रत्यक्ष से अधिक मूलगाभी स्वीकार करते हैं । इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्रत्यक्ष के साक्षात् विषयों का ज्ञान वास्तव में इन्द्रिय-प्रदत्त नहीं हैं, किन्तु बुद्धिगोचर विषयों के विश्लेषण पर आधारित अनुमान से आक्षिप्त हैं । वे प्रदत्त न होकर स्वंय सिद्धियाँ हैं जो अनुभव की मूल सामग्री के रूप में स्वीकार्य हैं । उनकी संभावना यथार्थ न होकर तार्किक है । पुनश्च इस तार्किकता के फलस्वरूप शांकर मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि कोई श्रुति- वाक्य प्रमाणित प्रत्यक्ष की सत्यता का विरोध करता है तो वह त्याज्य है । उनकी इस प्रवृत्ति को जानकी वल्लभ भट्टाचार्य ने नव्य न्याय की एक प्रमुख प्रवृत्ति बताया है [16] जो ठीक ही है । जो भी ज्ञान है वह आगमज नहीं किन्तु विवेकज है । परवर्ती वेदान्तियों ने भी इसको स्वीकार्य करते हुए माना कि यद्यपि उनका ज्ञान आगमज है तथापि वह विवेकज भी है । ज्ञान में विवेक की भूमिका को प्रतिष्ठित करना शांकर मिश्र जैसे नव्य नैयायिकों का एक चिरस्थायी योगदान है । शब्द प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष और अनुमान का वर्चस्व दर्शन में अत्यधिक है ।

§2§ लक्षण और प्रमाण § शांकर मिश्र के द्वारा पुष्ट युक्तियों से प्रवर्तित दार्शनिक पद्धति में यह मान्यता स्वीकृत है कि लक्षण और प्रमाण से वस्तुसिद्धि होती है - लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः । इस न्याय को न केवल प्राचीन न्याय, नव्य न्याय और अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में स्वीकार किया

गया, अपितु भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं में भी इसे पूर्णरूपेण माना गया । वास्तव में यह नव्य न्याय का समस्त भारतीय दर्शन पर युगान्तरकारी प्रभाव प्रदर्शित करता है । इसके कारण लक्षण अथवा परिभाषा का महत्व दार्शनिक पद्धति में सर्वोपरि हो गया । अवधारणा , स्पष्टीकरण , परिष्कार, दोषोद्‌भावन , दोष-निवारण और युक्ति - प्रदर्शन प्रमुख दार्शनिक कर्म गिने जाने लगे । यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि अद्वैतवेदान्त में स्वानुभूति पर बल दिया जाता है तथापि शंकर मिश्र के परवर्ती अद्वैतवेदान्तियों ने लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धि: न्याय को मानते हुए अपने दर्शनशास्त्र का जो प्रतिपादन किया है उसमें तर्क का महत्व स्वानुभूति से अधिक है । इस प्रकार स्पष्ट है कि शंकर मिश्र ने जिस दार्शनिक पद्धति का प्रवर्तन प्राचीन न्याय, नव्य न्याय और अद्वैतवेदान्त के क्षेत्रों में समान रूप से किया था उसका प्रभाव समग्र भारतीय दर्शन पर पड़ा है । यह भी कहा जा सकता है कि उसका प्रचलन आज भी प्रगति पर है । सचमुच यही मुख्य दार्शनिक कर्म है ।

पाद टिप्पणी और सन्दर्भ :-

1- पराशर उपपुराण 18/21, 22 ।

2. दे. काशिका की व्याख्या पदमंजरी, काशिका प्रथम भाग, वाराणसी, 1985, पृ0 2 ।

3- न्यायकोश, झलकीकर, पृ0 306 ।

4- वहीं, पृ0 828 ।

5- वैशेषिकसूत्र वृत्ति, दे. ति. ताताचार्य, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग से द्वारा वी.श्री रंगनाथाचार्य, पृ0 5 ।

6- खण्डनखण्डखाद्य, सं0 और हिन्दी अनुवादक, स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी 1979, पृ0 93 ।

7- भेदरत्न, शंकर मिश्र, वाराणसी, 1933, पृ0 66 ।

8- दे. काशी की सारस्वत साधना, डा0 गोपी नाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1965, पृ. 10 में उद्धृत श्लोक ।

9. दे. Gleanings From the History and Bibiliography of the Nyaya - Vaiśeṣika Literature, Gopi Nath Kaviraj, Page 45.

10- वही पृ0 45 टिप्पणी 27 ।

11- History of Indian Philosphy Vol II, M.M. Umesha Mishra, Page 30.

12- वैशेषिकसूत्रोपस्कार, व्याख्याकार आचार्य ढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 1979, पृ0 4 ।

13. वही , पृ . 78 - 79 ।

14. Indian Realism, P.K. Mukhopadhya, Page 113.

15. प्रत्यक्षापरिकलितमपि अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः । ऊपर उद्धृत वैशाषिकसूत्रोपस्कार , पृ. 252

16. Shankara Mishra is bold enough to discard the authority of any Vedic Passage that contradicts the truth of valid perception. This attitude towards the authority of the vedas constitutes the line of demarcation. The neo -logisians prefer to be guided by the evidence of perception and ~~and~~ inference, though in transcendental matters they do not intend to interfere with the authority of the Vedas, The Cultural Heritage of India, Vol III, Haridas Bhattacharyya (Ed.), Page 127.

नवम अध्याय

नवम अध्याय

भेदसिद्धान्त का आधुनिकीकरण

1- भेदसिद्धान्त की प्रासंगिकता

भेद और अभेद का विवेचन जितना भारतीय दर्शन में हुआ है उतना पाश्चात्य दर्शन में नहीं हुआ है । भारतीय दर्शन की यह एक ज्वलन्त समस्या है । इस समस्या का इतिहास बहुत पुराना है जिसको निम्नलिखित चार युगों में बांटा जा सकता है --

1- प्राक् शंकर -युग / शंकराचार्य के पहले भेद और अभेद दोनों का महत्व एक समान था । वेदान्त के अतिरिक्त सभी दर्शनों में भेद- पदार्थ की मान्यता थी । वेदान्त में भी भेदाभेदवाद की मान्यता थी जिसके अनुसार तत्वज्ञान में भेद और अभेद दोनों का प्राय: एक समान महत्व दिया गया था । शंकराचार्य के पूर्ववर्ती दार्शनिक भर्तृप्रपंच, ब्रह्मदत्त आदि इस भेदाभेदवाद के प्रमुख पुरस्कर्त्ता थे ।

2- शंकराचार्य का युग / गौड़पाद और शंकराचार्य ने भेद का निराकरण किया और सिद्ध किया कि भेद वास्तविक नहीं है बल्कि काल्पनिक है । उन्होंने केवल अभेद को परमतत्व का लक्षण बताया ।

3- शांकरोत्तर वेदान्त का युग / शंकराचार्य के पाश्चात्य भास्कर, रामानुज और मध्व ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विरोध किया और भेद को एक वास्तविक पदार्थ सिद्ध किया । इस युग में निश्चय ही भेद का विवेचन सबसे अधिक वेदान्त के क्षेत्र में हुआ और उसको लेकर अभेद के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना

की गई जिनके आधार पर कई प्रकार के वैष्णव वेदान्त स्थापित हुए । विपरीतत: अद्वैतवेदान्तियों ने वैष्णव वेदान्तियों के भेदवाद का खण्डन किया और अभेदवाद या अनिर्वचनीयतावाद को स्थापित किया । इस प्रसंग में इन अद्वैतवेदान्तियों में खण्डनखण्डखाद्य के प्रणेता श्रीहर्ष की एक युगान्तरकारी भूमिका है । उन्होंने भेद और अभेद से विलक्षण या तत्त्व और अतत्त्व से विलक्षण, अथवा तत्त्व और अन्यत्व से विलक्षण अनिर्वचनीय यत्किंचित् को प्रतिपादित किया जिसको भेदवादी और अभेदवादी दोनों तर्कत: स्वीकार कर सकते थे । हेगल की शब्दावली में यह भेद - अभेद का समन्वय है जिसे आधारभूमि {GROUND} कहा जाता है[1] ।

4 शांकर मिश्र और अन्य नैयायिकों का युग

श्रीहर्ष के पश्चात्य भेद की समस्या का विवेचन वेदान्त से अधिक न्याय के क्षेत्र में होने लगा जिसका प्रभाव मध्व वेदान्तियों पर विशेष रूप से पड़ा, क्योंकि वे ही अभेद के विरोध में सबसे अधिक भेदवादी वेदान्ती थे । यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि शांकर मिश्र के पश्चात् भेद का पक्ष केवल नैयायिकों और माध्व वेदान्तियों ने ही अधिक किया और उनका खण्डन केवल अद्वैतवेदान्तियों ने किया । भेद और अभेद का जो समन्वय श्रीहर्ष ने सुझाया था उसे बिल्कुल भुला दिया गया और भेदवाद तथा अभेदवाद को असमन्वययोग्य माना जाने लगा ।

भेद- अभेद के इस विवाद में निम्नलिखित चार प्रकार के तत्वज्ञान उभरे हैं - {क} अभेदवादी तत्वज्ञान ।

इसका समर्थन अद्वैतवेदान्तियों ने किया । इसके अनुसार जो तत्त्व है वह एक और अभिन्न है । उसे अद्वैत या अभेद कहा जाता है । भेद या द्वैत अभेद या

अद्वैत में अध्यस्त है । दूसरे शब्दों में भेद काल्पनिक है, वह वास्तविक नहीं है ।

§ख§ भेदवादी तत्वज्ञान

इसका समर्थन मध्व वेदान्त, न्याय, वैशेषिक ,जैन सांख्य ,योग ,शैव और शाक्त दार्शनिकों ने किया । उसके अनुसार भेद वास्तविक है । अभेदमात्र बौद्धिक अवधारणा है और वह वास्तविक या यथार्थ तत्व नहीं है । जो यथार्थ है वह भेदवान् है ।

§ग§ भेदाभेदवादी तत्वज्ञान

इसका समर्थन भास्कर, रामानुज, निम्बार्क , बल्लभ, चैतन्य महाप्रभु , काश्मीर शैवमत , त्रिपुराशाक्तमत आदि ने किया । इनके अनुसार भेद और अभेद दोनों वास्तविक हैं तथा दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । दोनों में क्या संबंध है ? इस प्रश्न को लेकर इन भेदाभेदवादियों में कई मत हैं जिनका विवेचन करना यहां प्रासंगिक नहीं है ।

§घ§ अनिर्वचनीयतावादी तत्वज्ञान

इसका समर्थन श्रीहर्ष ने किया । इसके अनुसार भेद और अभेद दोनों परिच्छेद हैं । सत् इन परिच्छेदों से विलक्षण है । इसलिये उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है । बौद्ध शून्यवाद तथा बौद्धविज्ञानवाद भी इस प्रकार के तत्व-विज्ञान को स्वीकार करते हैं । शंकर मिश्र जैसे नैयायिकों को भी इस मत को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है , क्योंकि इसके साथ भेदवाद का समन्वय किया जा सकता है । यह समन्वय व्याकरण-दर्शन के शब्द ब्रह्मवाद को लेकर

किया गया है । जब तक शब्द का प्रयोग होता है तब तक भेद है, सभी शब्दों में एक ओर परस्पर भेद हैं तो दूसरी ओर उनमें शब्द-ब्रह्म भी अनुस्यूत है । जब शब्द ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तब अनिर्वचनीय परमब्रह्म का बोध होता है । विष्णुपुराण में कहा गया है कि ब्रह्म द्विविध है - शब्दब्रह्म और पर-ब्रह्म । तथा जो शब्द ब्रह्म में निष्णात होता है वह परमब्रह्म को जानता है -

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्मं परं च यत् ।

शब्दब्रह्मणिनिष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति [2]।।

शंकर मिश्र ने श्रीहर्ष के अनिर्वचनीयतावाद को इसी आधार पर स्वीकार किया था । उनके अनिर्वचनीयतावाद में भेद को काल्पनिक , अवस्तु या मिथ्या नहीं माना जाता है । परन्तु वे यह स्वीकार कर सकते हैं कि परब्रह्म अनुभविकगम्य है और किसी पद द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । दूसरे शब्दों में, ब्रह्म की मौन अनुभूति तो सम्भव है, किन्तु जब उसका वर्णन या व्याख्यान किया जाता है तो भेद का आश्रय उसके लिये सहज हो जाता है । भेद द्वारा ही ब्रह्मानुभव का वर्णन संभव है ।

कुछ भी हो, भेद और अभेद को लेकर जिस तत्वज्ञान-समस्या का पर्याप्त विवेचन न्याय और वेदान्त के क्षेत्रों में हुआ है उसकों आधुनिक बनाने की आवश्यकता है । उसके आधुनिकीकरण के लिये समकालीन पाश्चात्य दर्शन से उसको जोड़ना है और इस प्रकार उसकी प्रासंगिकता की पुनः स्थापना करनी है ।

2- समकालीन दर्शन में भेद-सिद्धान्त

भारतीय भेद-सिद्धान्त से संबंधित समकालीन दर्शन की जो समस्याएं हैं, वे निम्नलिखित हैं :-

1- असत् की समस्या

2- निषेध की समस्या

3- एकत्व और अनेकत्व की समस्या अथवा तत्व और अन्यत्व की समस्या ।

4- यथार्थवाद की समस्या और प्रत्ययवाद का खण्डन

5- वर्णनात्मक तत्वज्ञान की समस्या ।

1- असत् की समस्या :-

असत् सत् से भिन्न है और सत् असत् से भिन्न है । बिना इस भेद के माने सत् को समझना असम्भव है । यही कारण है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म में सत् ब्रह्म की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि सत् का अर्थ वह है जो असत् नहीं है[3] । इस प्रकार असत् सत् को समझने में ही नहीं, किन्तु सत् के होने में भी उपकारक है । यह असत् क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में स्वंय अद्वैतवेदान्ती मानते हैं कि जो परिवर्तनशील , व्यभिचारी या आगन्तुक है वह असत् है । स्पष्ट है कि असत् भेद - श्रृंखला है । असत् भेद का स्वतः अस्तित्व है , वह भेद की इकाई (Numerical Existence) है ।

2- निषेध की समस्या :-

जिसको शांकर मिश्र ने भेद के रूप में स्वीकार किया है । यही शुद्ध निषेध है । यह निषेध प्रत्येक विषय के ज्ञान में आवश्यक है । उदाहरण के लिये , जब तक घट को पट या किसी अन्य विषय से भिन्न नहीं किया जाता तब तक घट का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । यही कारण है कि हेगल ने तादात्म्य और भेद दोनों को प्रत्येक विषय के ज्ञान की प्रागपेक्षा कहा है । यदि कोई विषय किसी अन्य विषय से भिन्न नहीं है तो वह मात्र एक अमूर्त प्रत्यय है । इसी प्रकार यदि कोई विषय केवल अन्य विषयों से भिन्न ही है और उसका स्वत: स्वरूप कुछ नहीं है तो वह विषय भी मात्र अमूर्त प्रत्यय है । इसी आधार पर हेगल ने शुद्ध सत् और अशुद्ध असत् दोनों को अमूर्त प्रत्यय कहा है । और जो यथार्थत: है उसे सत् और असत् का संकर कहा है, जिसे संभूत (Becoming) कहा जाता है [5] । ब्रैडले भी कहते हैं कि जहां विविधता नहीं है वहां एकता नहीं है [6] । ब्रैडले स्वीकार करते हैं कि तादात्म्य या अभेद के लिये कुछ-न-कुछ भेद आवश्यक है । परन्तु कितना आवश्यक है यह प्रश्न बहुत पेचीदा है और ब्रैडले इसका सन्तोषजनक उत्तर देने से इन्कार करते हैं [7] । इसी प्रकार अद्वैतवेदान्तियों ने जब भेद को अविद्या कहा और अविद्यालेश को अनादि तथा अनन्त माना, तब वे न्यूनतम भेद को ही ब्रह्म ज्ञान के लिये आवश्यक बताया । वे जिस तथ्य को इंगित कर रहे थे, वह वास्तव में वही है जिसका उल्लेख ब्रैडले ने किया है । यह उल्लेखनीय है कि अद्वैतवेदान्तियों ने अविद्यालेश को अनिर्वचनीय कहा [8] । जो वेदान्ती

अविद्या और अविद्यानिवृत्ति को पृथक् -पृथक अनिर्वचनीय मानते हैं वे अविद्यालेश को ही वास्तव में अविद्या के नाम पर अनिर्वचनीय कहते हैं । अद्वैतवेदान्तियों ने अपने सिद्धान्त को ऐक्यवाद न कहकर अद्वैतवाद कहा है क्योंकि ऐक्यवाद में भेद की भूमिका है और अद्वैतवाद में उस भूमिका का अतिक्रमण है । वाचस्पति मिश्र ने इस स्थिति को स्पष्ट किया है । वे कहते हैं कि घट आदि सत् से न तो भिन्न है न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न । वह अनिर्वचनीय है [9] । इस प्रकार भेद का निराकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने वास्तव में अभेद का ही निराकरण कर दिया और अनिर्वचनीयतावाद का सहारा ले लिया । वे स्वयं कहते हैं कि अनन्यत्व का अर्थ अभेद नहीं किन्तु भेद का निराकरण है [10] । इस प्रकार प्रकारान्तर से इन अद्वैतवादियों ने स्वीकार किया है कि अभेदज्ञान में भेद ज्ञान अनिवार्यत: निहित रहता है ।

3- एकतत्व और अनेकत्व की समस्या या तत्व और अन्यत्व की समस्या :-

भेद-सिद्धान्त द्वैतवाद या बहुत्ववाद का आधार है और अभेद का सिद्धान्त एकत्ववाद या अद्वैतवाद का आधार है । पाश्चात्य दर्शन में एकत्ववाद और बहुत्ववाद का जो विवाद है वह वास्तव में अभेद तथा भेद का विवाद है । इसी प्रकार सत् और असत् ,स्थिरता और परिवर्तन, तत् और अन्यत्व के जो विवाद हैं वे भी भेद - अभेद के ही विवाद हैं । इन विवादों से भारतीय भेद सिद्धान्त की व्यापकता का अनुमान लगाया जा सकता है । आधुनिक युग में तत् को संकेतवाचक सर्वनाम नहीं, किन्तु शुद्धनाम या संज्ञा माना जाता है । किन्तु आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने सिद्ध किया है कि तत् का जो संदर्भ है या निर्देश है

उसके ज्ञान में निषेध , सामान्य आदि पदार्थों की अपेक्षा है [11] । इस प्रकार अन्यत्व तो भेद है ही और स्वंय तत्व भी भेदमूलक सिद्ध हो जाता है ।
पाश्चात्य दर्शन में लाइबनीज ने भेद-सिद्धान्त का एक नियम दिया है जिसको अदृश्यों की एकता (Identity of Indiscernibles) कहा जाता है । इसका सूत्र है कि प्रत्येक वस्तु असमान है अर्थात कोई विषय किसी अन्य विषय के पूर्ण सामान नहीं है, कोई वस्तु पूर्ण भी नहीं है, बल्कि वह अपूर्ण है । इस अपूर्णता के आधार पर ही लाइबनीज ने अनेकत्ववाद की स्थापना की है। किन्तु लाइबनीज ने भेद को गुणात्मक नहीं माना । उन्होंने उसे परिमाणात्मक (Numerical) ही माना । विटिगेंस्टाइन ने इसे ठीक नहीं कहा । उन्होंने भेद को गुणात्मक या परिमाणात्मक दोनों माना । शांकर मिश्र जब कहते हैं कि प्रत्येक विषय के स्वरूप-निर्धारण में भेद की भूमिका है तब से वास्तव में वही कह रहे हैं जो लाइबनीज कहते हैं ।

4- यथार्थवाद की समस्या :-

भेद-सिद्धान्त यथार्थवाद का मूल है और अभेद का सिद्धान्त प्रत्ययवाद का मूल है, क्योंकि यथार्थवाद सिद्ध करता है कि ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है और प्रत्ययवाद मानता है कि ज्ञेय ज्ञान से अभिन्न है । शांकर मिश्र ने भेदसिद्धि में जिन युक्तियों का प्रयोग किया है उनकी तुलना जी०ई०मूर और राल्फ बर्टन पेरी की उन युक्तियों से की जा सकती है जिनको उन्होंने प्रत्ययवाद के खण्डन में प्रस्तावित किया है । शांकर मिश्र यथार्थवादी और अनुभववादी दार्शनिक हैं । वे प्रत्ययवाद का खण्डन करते हैं। इसलिये उनके भेदवाद को प्रत्ययवाद के खण्डन की एक शक्तिशाली

विचारधारा माना जा सकता है । जी0ई0मूर ने बाह्य सम्बन्ध के आधार पर प्रत्ययवाद का जो खण्डन किया है वह शंकर मिश्र की युक्तियों का ही एक प्रयोग या प्रकार प्रतीत होता है । जी0ई0मूर कहते हैं कि विषय को ज्ञान से अभिन्न करना दर्शन शास्त्र की भर्त्सना करना है । वे भेद को एक सम्बन्ध मानते हैं और कहते हैं कि सभी सम्बन्ध बाह्य हैं । जब तक कोई वस्तु किसी वस्तु से संबंधित नहीं होती है तब तक उस वस्तु का ज्ञान संभव नहीं है । इस कारण प्रत्येक वस्तु अनिवार्यत: भेदवान् है । जी0ई0मूर के समकालीन दार्शनिक ए0सी0 इविंग ने उनके तर्क को स्वीकार करते हुए और ब्रैड्ले के मत का संशोधन करते हुए कहा, " जब ब्रैड्ले कहते हैं कि विभिन्न विषय एक दूसरे को बाधित करते हैं तो वास्तव में ब्रैड्ले के कथन को इस संशोधित रूप में लेना चाहिए कि जो विभिन्न विषय एक दूसरे को बाधित करते हैं वे वास्तव में एक व्यवस्था और निकाय (System) के अन्दर ही ऐसा करते हैं । जीवित और अजीवित, ये दो विषय एक दूसरे को तभी बाधित करते हैं जब वे किसी निकाय के अन्दर एक विषय पर आरोपित किये जाते हैं।अत: यह बात नहीं है कि जो भेदवान् विषय हैं वह एक दूसरे को बाधित करते हैं । किन्तु सत्य बात यह है कि वे एक दूसरे को तभी बाधित करते है जब उनमें से एक किसी निकाय में गलत स्थान पर रखा जाता है [12] ।

हेगल बहादुरी से भेद और अभेद का समन्वय तत्त्व (Essence) में करते हैं और मानते हैं कि तत्त्व अपने को अभिव्यक्त करता है तथा अन्य से अपने को भिन्न भी करता है । इस कारण तत्त्व को स्वप्रकाश और पर-प्रकाशक

कहा गया है [13] । वे तत्व के निर्धारण में निम्नलिखित तीन क्षण मानते हैं :-

1- अभेद : जैसे क क है अथवा क क और अ - क नहीं हो सकता ।

2- विभेद : जैसे क या तो ख है या ख नहीं ~~नहीं~~ है और तृतीय पद संभव नहीं है ।

3- आधार : जिसके अनुसार जो भी है उसके लिये पर्याप्त आधार है ।

इस प्रकार भेद ,विभेद और आधार के त्रिक द्वारा हेगल भेदऔर अभेद की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं [14] । यहां उल्लेखनीय है कि हेगल इस आधार को सत् (Existence) कहते हैं और ज्यो - ज्यों उनका द्वन्द्व न्याय विकसित होता है त्यों - त्यों यह सत् बोध या चित् (Thought) हो जाता है । इसी तथ्य को शंकराचार्य यों कहते है :- सत्तैव बोधो बोध एवं सत्ता [15] ।

5- वर्णनात्मक तत्वज्ञान की समस्या :-

पी०एफ०स्ट्रासन ने डेकार्ट और हेगल के तत्वज्ञान को वितर्कात्मक या पुनर्दृष्टिमूलक तत्वज्ञान कहा है और उसके प्रतिद्वन्द्वी विलोम को वर्णनात्मक तत्वज्ञान कहा है । उनके मत से पुनर्दृष्टिमूलक तत्वज्ञान एक आदर्श को मानकर चलता है और अनुभव के विषयों की पुर्नव्याख्या उस आदर्श के अनुसार करता है। विपरीतत:,वर्णनात्मक तत्वज्ञान (Descriptive Metaphysics) यथार्थ का चित्रण करता है और मूल विशेषों का यथासंभव वर्णन प्रस्तुत करता है । ये मूल विशेष स्ट्रासन के अनुसार भौतिक वस्तुएं और व्यक्ति हैं । वे इन

विशेषों का निरूपण पहचान और पुन: पहचान (Identification or Reidentification) और विविक्तता (Distinctness) की कसौटी पर करते हैं[16]। स्पष्ट है कि पहचान, पुन: पहचान , विविक्तता और विशेष - ये सभी भेदपूर्वक हैं।

डेकार्ट ने स्पष्टता और विविक्तता (Clearness and Distinctness) को सत्यज्ञान की कसौटी कहा था। हेगल ने भी विवेक या विविक्तता (Distinction) को तत्व (Essence) का प्रमुख लक्षण कहा और माना कि तत्व स्वरूप सम्बन्ध तथा निषेध का सहभाव है जो विवेकजज्ञान , सापेक्षता तथा परोक्षता (Mediation) में अभिव्यक्त होता है[17]। स्ट्रासन भी इस विवेकजज्ञान को विशेषों के पहचान की कसौटी मानते हैं। इस कारण उनके वर्णनात्मक तत्वज्ञान और डेकार्ट तथा हेगल के तत्व-ज्ञान में इसको लेकर समानता है। स्ट्रासन इसका प्रयोग विभिन्न विषयों के ही वर्णन में करते हैं, जबकि डेकार्ट और हेगल इसका उपयोग विशेषों के उद्गम तथा लय में भी करते हैं। परन्तु यह निर्विवाद है कि भेद का सहारा दोनों प्रकार के तत्वज्ञान में है। वर्णनात्मक तत्वज्ञान में तो भेद का वैसे ही उपयोग है जैसे लाइबनीज और न्यायदर्शन में है। जब शंकर मिश्र कहते हैं कि मानं भेदप्रमापकम् या सर्वधी: भेदप्रमापिका[18], तो वे वास्तव में उसी विवेक ज्ञान को रेखांकित करते हैं जिसको डेकार्ट, हेगल और स्ट्रासन ने स्वीकारा है।

इस प्रकार जितने भी प्रकार के तत्वज्ञान हैं, यथार्थवादी या प्रत्ययवादी,

पुनर्दृष्टिमूलक या वर्णनात्मक, सब में भेद तथा भेद-गृहीत ज्ञान का महत्व केन्द्रीय है । पाश्चात्य दार्शनिकों ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि भेद गुण है या सम्बन्ध ? यह प्रश्न शांकर मिश्र के भी ध्यान में था । यद्यपि वे पाश्चात्य दार्शनिकों की भांति प्राय: भेद को एक सम्बन्ध ही मानते हैं, फिर भी जब वे कहते हैं कि अद्वैत में भी भेद निहित है अथवा घट-व्यक्ति में भी स्वरूपभेद है, तो वे भेद को एक गुण मानते हैं । वैशेषिक दर्शन में आस्था रखने के कारण वे भेद को अन्यत्व या पृथक्त्व के रूप में लेते हैं और जैसे वैशेषिक दार्शनिक पृथक्त्व को चौबीस गुणों में एक गुण मानते हैं वैसे शांकर मिश्र भी पृथक्त्व या भेद को गुण मानते हैं ।

अद्वैतवेदान्त को स्ट्रासन के शब्दावली में पुनर्दृष्टिमूलक तत्वज्ञान (Revisionery Metaphysics) कहा जा सकता है क्योंकि वह स्वरूप-भेद, अन्योन्याभाव भेद, वैधर्म्य भेद और पृथक्त्व भेद को परमार्थत: स्वीकार नहीं करते और उनका रूपान्तरण एक और अभिन्न तत्व में करते हैं ।

स्वरूपान्योन्यवैधर्म्यपृथक्त्वेति चतुर्विध :
भेदो न घटते ऽद्वैत वदत्ये तत्तु साम्प्रतम् [19] ।।

चतुर्विध भेद को नकारना तथा उनका लय अभेद में करना अद्वैतवेदान्त को पुनर्दृष्टिमूलक तत्वज्ञान बनाता है । शांकर मिश्र चतुर्विध भेद को स्वीकार करते है और जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है इसके लिये वे युक्तियाँ भी देते हैं । इस प्रसंग में इतना जोड़ना आवश्यक है कि जहां अद्वैतवेदान्ती सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगतभेद - इन तीनों भेदों की चर्चा करते हैं और माध्व-

वेदान्ती पांच प्रकार के भेद की चर्चा करते हैं जिन्हें वे ईश्वर और जीव का भेद , ईश्वर और जड़ का भेद, जीव और जड़ का भेद , जीव - जीव का भेद तथा जड़ - जड़ का भेद कहते है [20], अतः शांकर मिश्र की दृष्टि में अद्वैतवेदान्तियों और मध्व वेदान्तियों का यह भेद निरूपण भेद-सिद्धान्त का एक विशिष्ट उपयोग है । शांकर मिश्र ने जिस भेद-सिद्धान्त को स्थापित किया है वह इन वेदान्तियों के भेदभाव-निरूपण से गहरा है । मध्व-वेदान्ती विशेष को भेद-निर्वाहक मानते हैं । मोटे रूप से यही विशेष शांकर मिश्र के भेद-सिद्धान्त का विषय है और यही पी०एफ० स्ट्रासन के वर्णनात्मक तत्त्वज्ञान का विषय है । इसलिये शांकर मिश्र की तत्त्वमीमांसा को आसानी से वर्णनात्मक तत्व ज्ञान या तत्त्वमीमांसा कहा जा सकता है ।

1. The GROUND is the Unity of Identity and difference, the truth of what difference and identity have turned out to be,— the reflection into self, which is equally a reflection-into another, and vice versa. It is essence put explicitly as a totality.

Hegel के Encyclopaedia of the Philosophical sciences से Wallace द्वारा अनूदित अंश जो Hegel selection, Charles Scribners' Sons, U.S.A. Page 148 में संकलित है ।

2. विष्णु पुराण 6/ 5 / 64

3. अत: सत्यं ब्रह्मेति विकारान् निर्वतयति ,शांकराचार्य , तैन्तिरीयोपनिषद्भाष्य 2/9/9 .

4. Difference is a form of negation,

Structural Depths of Indian Thought, P.T.Raju, South Asian Publishers, New Delhi, 1985. Page 399.

5. Being is the simple empty immediateness which has its opposite in Pure Naught, and whose union therewith is the Becoming; as transition from Naught to Being, it is Beginning, the converse is ceasing.

ऊपर उद्धृत हेगल का ग्रन्थ पृ0 104 । हेगल संभूत को आरंभण भी कहते हैं।

हेगल इस आरंभण (Beginning) को संभूत (Becomming) या नियत सत् (determinate being) कहते हैं -

Determinate Being is become or determined Being, a Being which has a relation to another, hence to its non-being वही पृ0 104.

6. Where there is no diversity there is no Identity at all, the

Identity is abstraction from the diversity having lost its character, Appearance and Reality, F.H. Bradley, Oxford, 9th edition, 1951, Page 526.

Without difference in Character there can be no distinction, and the opposite would seem to be nonsense. But then what in the end is that difference of character which is sufficient to constitute numerical distinction ? I do not mean by this , what in the end is the relation of difference to distinction. But Setting that general question here on one side, I ask , In order for distinction to exist, what kind or kinds of diversity in character must be presupposed? Or again we may put what is more or less the same question thus. What and of what sort is the minimum of diversity required for numerical difference and same ness, these being taken in the widest sense? And to this question I can not return a satisfactory answer, वही पृ.532.

Pre- Samkara Advaita Philosophy, S.L. Pandey, Allahabad, 2nd edition, 1983. Page 428.

देखिए भामती 2/1/14 , जहां प्रत्येक कार्य को अनिर्वचनीय सिद्ध किया गया है

न खल्वनन्यत्वमिति अभेदंब्रूम: किन्तु भेदं व्यासेधाम: / भामती 2/1/14 .

संदर्शन , भाग 11 , 1985 , इलाहाबाद में मेरा लेख " निर्देश की समस्या पेज 9-10 .

Idealism, A critical survey, A.C. Ewing, New York, 1933 page 150-151.

देखिए, हेगल का ऊपर उद्धृत ग्रन्थ , पृ० 138 - 148 । इन दस पृष्ठों में हेगल ने भेद के जिन रूपों का वर्णन किया है वे विविधता,असमानता, विरोध,निषेध , निषेध का निषेध और वैपरीत्य हैं ।

14- दे. वही ऊपर उद्धृत हेगल का ग्रन्थ पृ0 110 - 111 .

15- शारीरक भाष्य 3/2/21 .

16- दे. Individuals, P.F. Strowson, London, 1959, भूमिका Page 9-10.

17- हेगल का ऊपर उद्धृत ग्रन्थ पृ. 138
It is now in Essence, inself- relating essence, and therefore the negation is at the same time a relation,- is , in short, distinction, Relativity,Mediation.

18- भेदरत्न , शंकर मिश्र , पृ0 3 .

19- दे. खण्डनगर्तप्रदर्शनी , साधु मोहन लाल, पृ0 111 जो शांकरी सहित खण्डनखण्डखाद्य के लाजरस संस्करण में संगृहीत है ।

20- जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा ।
जीवभेदो मिथश्चैव जड़जीवभिदा तथा ॥
मिथश्च जडभेदोऽयं प्रपञ्चो भेदपंचक : ।
सोऽयं सत्यौ ह्यनादिश्च सादिश्चेन्ना शमाप्नुयात् ॥
भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, प्रो. संगम लाल पाण्डेय , द्वितीय संस्करण 1984 , पृ. 444 में उद्धृत मध्व के विष्णुतत्त्व-निर्णय का वचन ।

सहायक ग्रन्थ - सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

(क) शांकर मिश्र के मूल संस्कृत ग्रन्थ -

1- आत्मतत्वविवेक - उदयनाचार्य विरचित , शांकर मिश्र ,भगीरथ ठक्कुर ,रघुनाथ शिरोमणि और मथुरानाथ की टीकाओं सहित, बिबलोथिका इंडिका ,कलकत्ता 1919 .

2- खण्डनखण्डखाद्य - श्रीहर्ष, शांकर मिश्र के आनन्दवर्धन सहित, (खण्डनखण्ड खाद्य टीका- शांकरी) सं0 भागवताचार्य ई.जे.लाजरस एण्ड कम्पनी ,बनारस 1917 ।

3- खण्डनखण्डखाद्य - शांकरी और हिन्दी अनुवाद सहित हिन्दी अनु. हनुमानदास षडशास्त्री चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस ,बनारस , 1970 ।

4- [illegible] - शांकरी तथा अन्य चार टीकाओं सहित, सं. पं. सूर्यनारायण शुक्ल चौखम्भा संस्कृत सीरीज,वाराणसी 1935 .

5- न्यायकुसुमांजलि (आमोद) - गुणानन्दकृतविवेक वरदाजकृत बोधिनी हरिहरकृपालु द्विवेदीकृत परिमल सं. महाप्रभुलाल गोस्वामी, दरभंगा, 1969 .

न्यायलीलावतीवल्लभाचार्य-विरचित - ~~विरचित~~ शांकरमिश्र कृत न्यायलीलावतीकंठाभरण और वर्धमानकृत प्रकाश, भगीरथ ठक्कुरकृत वृत्ति सहित ,सं0 श्रीहरिहरशास्त्री चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,1934 .

भेदरत्न - शांकर मिश्र , सं0 सूर्यनारायण शुक्ल, बनारस, 1934 .

वादिविनोद - शांकर मिश्र , सं. गंगानाथ झा,इलाहाबाद 1915 .

वैशेषिकसूत्रोपस्कार - शांकर मिश्र , "प्रकाशिका" हिन्दी व्याख्या सहित, अनु. ढुण्ढिराज शास्त्री ,चौखम्भा संस्कृत संस्थान , वाराणसी , 1969 .

अन्य संस्कृत ग्रन्थ

आत्मतत्वविवेक - नारायणी टीका और रघुनाथ शिरोमणि की टीका सहित , सं. ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,1940 .

अद्वैतरत्नरक्षण - अद्वैतसिद्धि सहित, मधुसूदन सरस्वती सं. अनन्त कृष्ण शास्त्री,निर्णय सागर प्रेस,बम्बई,1917 .

उदयन निराकरणम् - रत्नकीर्ति, सं. रघुनाथ पाण्डेय, श्री सद्गुरु प्रकाशन ,दिल्ली ,1984 { उदयन के आत्मतत्व-विवेक का बौद्ध दृष्टि से प्रत्युत्तर }

खण्डनोद्धार - अभिनववाचस्पति मिश्र , सं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी,वाराणसी, 1909

- खण्डनखण्डखाद्य - आनन्दपूर्णमुनि की विद्यासागरी तथा स्वामी योगीन्द्रानन्द की हिन्दी व्याख्या सहित, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1979 .
- तत्वप्रदीपिका - चित्सुख मुनि ,सटिप्पणी हिन्दी भाषा अनुवाद सहित, योगीन्द्रनन्द ,उदासीन संस्कृत विद्यालय , काशी , 1956 .
- नैषधीयचरितम् महाकाव्य- महाकवि हर्ष , हिन्दी अनुवाद सहित, मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स , बनारस , 1949 .
- न्यायकोश - म०म० भीमाचार्य झलकीकर ,भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना , तृतीय संस्करण,1928 .
- न्यायभूषण - भासर्वज्ञ , सं. योगीन्द्रानन्द ,वाराणसी, 1968 .
- न्यायलीलावती - बल्लभाचार्य, निर्णयसागर, बम्बई , 1915 .
- पंचपादिका विवरण - द्वारा प्रकाशात्मा तथा तत्वदीपन और भाव - प्रकाशिका सहित,सं. रामशास्त्री भागवताचार्य, ई. जे. लाजरस कम्पनी, काशी 1892 .
- भेदधिक्कार - नृसिंहाश्रम , नारायण आश्रम की टीका सहित , दो भाग , बनारस संस्कृत सीरीज ,1904 .
- भेदजयश्री - तर्कवागीश भट्ट वेणीदत्तचार्य सं. गोपीनाथ कविराज, दि. प्रिंसेज आफ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट ,वाराणसी , 1933 .

23- भेदसिद्धि - विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य संस्कृत टीकाकार और सं. सूर्य नारायण शुक्ल , राजकीय संस्कृत विद्यालय बनारस , 1933 .

24- मध्वतंत्रमुखमर्दन - अप्पयदीक्षित , सं. विनायक गणेश आपटे , आनन्दाश्रम मुद्रणालय , 1940 .

25- मानमनोहर - वादिवागीश्वर , सं. और हिन्दी अनुवादक योगीन्द्रानन्द , वाराणसी , 1973 .

26- सर्वसिद्धान्त संग्रह - श्री शंकराचार्य विरचित , अडयार लाइब्रेरी , मद्रास .

ग- अंग्रेजी - ग्रन्थ

27. Anonymous : Advaita Granth Kośa, Kanchepuram,1958.

28. Bradley, F.H. : Appearance and Reality, oxford, 9th edition, 1951.

29. Bhattacharya, D.C. : History of Navya Nyaya in Mithila, Mithila Institute, Durbhanga 1958.

30. Bhattacharya, Haridas (Ed.) : The cultural Heritage of India, Vol. III, Calcutta, First edition,1937, Reprint, 1975.

31. Chatterji, S.C. : The Nyaya Theory of Knowledge, University of Calcutta, First edition 1934, Reprint 1978.

32. Chatterji, Suniti Kumar (Ed.) : The Cultural Heritage of India Vol V, Calcutta, 1978.

33. Das Gupta, S.N. : A History of Indian Philosophy, Vol. II, III and IV, Cambridge University Press Cambridge, 1932.

34. Hiriyanna, M. : Indian Philosophical Studies, 2 Vols, Kavyalaya Publishers, Mysore.

35. Jha, G.N. : Shankara Vedanta, Allahabad University, 1940.

36. Kaviraj, Gopinath : Gleanings From the History and Bibliography of the Nyaya Vaisesika Literature, Calcutta, 1961.

37. Loewenberg, J. : Hegel, Selections, the modern student's Library, New York, 1929.

38. Maitra, Susil Kumar : Fundamental Questions of Indian Meta-Physics and logic, University of Calcutta Second edition 1974.

39. Mishra, Umesha : History of Indian Philosophy, Vol.II, Tirabhukti Publications, Allahabad,1966.

40. Mukhopadhyay, Pradyot Kumar : XXXXXXX - Indian Realism, A Rigorous Descriptive Metaphysics, K.P.Bagchi and Company, Calcutta, 1984.

41. Pandey, Sangam Lal: Pre-Śaṅkara Advaita Philosophy, Darshan Peeth, Allahabad, 1983.

42. Potter, Karl; (Ed.) Encyclopedia of Indian Philosophy, Vols. II & III, Motilal Banarsi Dass, Delhi, 1977.

43. Raju, P.T. : Structural Depths of Indian Thought,South Asian Publishers, New Delhi, 1985.

44. Sadhu Santinath : The Critical Examination of Non-Dualistic Philosophy (Vedanta), Tatvajnana Mandir Amalner, 1938.

45. Sharma, Dr. E.R. (ed.) : Manikana, The Adyar Library and Research Centre Madras, 1977.

46. Sastri, Prof. S. Kuppuswami : Compromises in the History of Advaita Thought, The Kuppuswami Sastri Research Institute, Madras, 1946.

47. Sastri, Surya Narayan and Mahadevan,T.M.P. : A critique of Difference, E.T. of Bheda-Dhikkara of Nṛsiṃhāśramin, University of Madras, Fist Edition 1936, Reprint 1965.

48. Sinha, Nand Lal (Tr): The vaiśeṣika Sūtras of Kaṇāda with the Commentary of Śankara Mishra, The Sacred Books of the Hindus Vol VI, Allahabad, 1923.

49. Sinha, Jadunath : Indian Philosophy, Vol. I, New Central

Book Agency, Calcutta, Second edition,1987.

50. Smart, Ninian : Doctrine And Argument in Indian Philosophy, George Allen And Unwin Ltd. London, 1964.

51. Swami Satprakasha-Nanda : Methods of knowledge, Advaita Ashrama, Cal-Cutta, 1974.

52. Thibaut, G. and Jha,G.N. (Ed.) : Khandankhand Khadya, E.T., Ganga Nath Jha, Indian thought, Vol. I to VI, Indian Press, Allahabad, 1907-14.

53. Vidyabhushan,SC : A History of Indian Logic, Motilal Banarsi-dass, Delhi, First edition, 1970, Calcutta, Reprint Delhi, 1971, 1978.

(घ) हिन्दी ग्रन्थ

54- ओझा, केदारनाथ - विद्यावैजयन्ती निबन्धमाला , प्रथमभाग , वाराणसी , 1979 .

55- कविराज,गोपीनाथ - काशी की सारस्वत साधना,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् , पटना , 1965 .

56- गिरि,चिद्घनानन्द - न्यायप्रकाश, लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस , कल्याण , बम्बई , 1934

57- चतुर्वेदी,डा.कृष्णकान्त - द्वैतवेदान्त का तात्त्विकअनुशीलन, विद्याप्रकाशन मन्दिर,दिल्ली, 1971 .

58- झा,डा.किशोरनाथ - न्यायशास्त्रीय ईश्वर वाद ,शेखर प्रकाशन इलाहाबाद , 1978 .

59- झा, दुर्गाधर (अनु.) - न्यायकुसुमांजलि उदयनाचार्य , हिन्दी अनुवाद संस्कृत विश्वविद्यालय , वाराणसी ,1973 .

60- झा,हरिमोहन - भारतीय दर्शन परिचय, प्रथम खण्ड , न्याय-दर्शन पुस्तक भण्डार , पटना .

61- झा, हरिमोहन - भारतीय दर्शन परिचय, द्वितीय खण्ड , वैशेषिक दर्शन पुस्तक भण्डार , पटना ।

62- तर्कवागीश,म.म.फणिभूषण- न्यायपरिचय मूल बंगला से हिन्दी अनुवाद द्वारा डा0 किशोर नाथ झा, चौखम्भा विद्याभवन , वाराणसी , 1968 .

63- त्रिपाठी,केदारनाथ {अनु.} आत्मतत्वविवेक , उदयनाचार्य , हिन्दी अनुवाद, प्रकाशक केदार नाथ त्रिपाठी, वाराणसी, 1983 .

64- दास,निश्चल - वृत्तिप्रभाकर , खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई , 1949 .

65- दास निश्चल - वृत्तिप्रभाकर, आधुनिक हिन्दी रूपान्तर , स्वामी आत्मानन्द , श्री आनन्द कुटीर ट्रस्ट , पुष्कर , 1949 .

66- पाण्डेय, डा.आनन्दप्रकाश परिभाषा और विश्लेषण , दर्शनपीठ , इलाहाबाद , 1988 .

67- पाण्डेय प्रो.संगमलाल { सं.} भारतीय दर्शन के जीवन्तप्रश्न , हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ,1979 .

{ विशेषत: गुलाबराय , रामशंकर द्विवेदी, बलदेव उपाध्याय, क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, उमेश मिश्र , कमलाकान्त मिश्र , और गोपाल शास्त्री के लेख }

68- पाण्डेय,प्रो.संगमलाल - भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण सेन्ट्रल बुक डिपो , इलाहाबाद , 1981 .

69- पाण्डेय, डा. स्वंयप्रकाश - तत्त्वानुसंधान का दर्शन , दर्शनपीठ , इलाहाबाद,1986 .

70- बिजल्वान,डा.चक्रधर - भारतीय न्यायशास्त्र ,उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान , लखनऊ , 1983 .

71- मलकानी, घनश्यामदास - रतनमल | वेदान्ततत्त्वज्ञानमीमांसा, हिन्दी अनुवाद, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1973.

72- शर्मा, ब्रजनारायण - भारतीय दर्शन में अनुमान, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1973.

73- शास्त्री, डा. दयाशंकर - उद्योतकर का न्यायवार्तिक : एक अध्ययन, भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर, 1974.